व्यावसायिक अर्थशास्त्र

ch- dke I

nwjLFk f'k{kk funs'kky;

egf"k n;kuUn fo'ofo|ky;

jksgrd&124 001

Copyright © 2002, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means; electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

Developed & Produced by EXCEL BOOKS, PVT. LTD., A-45 Naraina, Phase 1, New Delhi-110028

विषय सूची

अध्याय 1	आर्थिक समस्या	5
अध्याय 2	माँग की मूल्य सापेक्षता	16
अध्याय 3	उत्पादन फलन के सिद्धान्त	31
अध्याय 4	लागत का सिद्धान्त	45
अध्याय 5	बाजार संरचना	53
अध्याय 6	कीमतों के साधन–I	104
अध्याय 7	कीमतों के साधन–II	134

SYLLABUS

Paper-IV: Business Economics

Max. Marks : 100
Time : 3 Hours

Note : Ten questions shall be set in the question paper with a minimum of three questions from each unit. The candidate shall be required to attempt five questions in all, selecting at least one question but not more than two from each unit.

Unit-I **Introduction:** Basic problems of an economy; Working of price mechanism.

Elasticity of Demand : Concept and measurement of elasticity of demand; Price, income and cross elasticities; Average revenue, marginal revenue, and elasticity of demand; Determinants of elasticity of demand; Importance of elasticity of demand.

Production Function: Law of variable proportions, Iso-quants; Economic regions and optimum factor combination; Expansion path; Returns to scale; Internal and external economies and dis-economies; Ridge lines.

Unit-II **Theory of Costs:** Short-run and long-run cost curves-traditional and modern approaches.

Market Structures: Market Structures and business decisions; Objectives of a business firm.

(a) **Perfect Competition:** Profit maximization and equilibrium of firm and industry; Short-run and long run supply curves; Price and output determination; Practical applications.

(b) **Monopoly:** Determination of price under monopoly; Equilibrium of a firm; Comparison between perfect competition and monopoly; Multi-plant monopoly; Price discrimination. Practical applications.

(c) **Monopolistic Competition:** Meaning and characteristics; Price and output determination under monopolistic competition; Product differentiations; Selling costs; Comparison with perfect competition; Excess capacity under monopolistic competition.

(d) **Oligopoly:** Characteristics, indeterminate pricing and output; Classical models of oligopoly; Price leadership; Collusive oligopoly; Kinked demand curve.

Unit-III **Factor Pricing-I:** Marginal Productivity theory and demand for factors; Nature of supply of factor inputs; Determination of wage rates under perfect competition and monopoly; Exploitation of labour; Rent-concept; Ricardian and modern theories of rent; Quasi rent.

Factor Pricing-II: Interests-concept and theories of interest; Profit-nature, concepts, and theories of profit.

Unit-1

आर्थिक समस्या
(Economic Problem)

प्रत्येक अर्थव्यवस्था की कुछ आधारभूत आर्थिक समस्याएं हैं। इन आधारभूत समस्याओं की विस्तत विवेचना करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि आर्थिक समस्या से अभिप्राय क्या है।

प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकताएं असीमित हैं परंतु उन्हें संतुष्ट करने वाले अधिकतर साधन सीमित हैं। एक अर्थव्यवस्था के लिये यह सम्भव नहीं है कि वह प्रत्येक नागरिक के लिये प्रत्येक वस्तु का उत्पादन कर सके क्योंकि किसी भी अर्थव्यवस्था के पास इतने अधिक साधन नहीं होते। अतएवं प्रत्येक अर्थव्यवस्था को यह चुनाव करना पड़ता है कि अर्थव्यवस्था के वैकल्पिक प्रयोग वाले **साधनों** (Resources) जैसेः भूमि, श्रम तथा पूंजी का किस प्रकार कुशलतापूर्वक प्रयोग किया जाए। उदाहरण के लिए, अर्थव्यवस्था को यह निर्णय लेना पड़ता है कि कितने साधनों का प्रयोग मक्खन के तथा कितने साधनों का प्रयोग बन्दूकों के उत्पादन के लिए किया जाये। साधनों के विभिन्न उपयोगों में बंटवारे (Allocation) सम्बन्धी इस समस्या को ही आर्थिक समस्या कहा जाता है। अतः आर्थिक समस्या **चुनाव की समस्या** (Problem of Choice) या **साधनों के बचतपूर्ण प्रयोग की समस्या** (Economising Problem) है। यह ध्यान रखना चाहिए कि आर्थिक समस्या केवल वर्तमान साधनों के वितरण की समस्या ही नहीं वरन् भविष्य में उनके विकास की समस्या (Problem of Growth and Distribution of Resources) भी है। अतएव **आर्थिक समस्या वह समस्या है जिसका सम्बन्ध वर्तमान साधनों के उचित बंटवारे तथा भविष्य के साधनों की वद्धि और उनके वितरण से है।**

परिभाषा (Definition)

(1) **राबर्ट यॉह** के अनुसार, "**आर्थिक समस्या वह समस्या है जिसका सम्बन्ध चुनाव की इस आवश्यकता से है कि क्या, कैसे और किसके लिए उत्पादन करना है तथा आर्थिक प्रगति कैसे प्राप्त करनी है।"** (Economic problem is the problem relating to the necessity of choosing what, how and for whom to produce and how to achieve economic growth. - **Robert Awh)**

(2) **लेफ्टविच** के अनुसार, "**आर्थिक समस्या का सम्बन्ध मनुष्य की वैकल्पिक आवश्यकताओं के लिए सीमित साधनों के वितरण तथा इन साधनों का अधिक से अधिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये प्रयोग करने से है।"** (Economic problem is concerned with the use of scarce resources among alternative human wants and in using these resources towards the end of satisfying wants as fully as possible. - **Leftwitch**)

1.1 आर्थिक समस्या के कारण

आर्थिक समस्या के उत्पन्न होने के दो मुख्य कारण हैं:

(1) **असीमित आवश्यकताएं** (Unlimited Wants) : मनुष्य की आवश्यकताएं जो पदार्थों व सेवाओं के उपयोग द्वारा सन्तुष्ट की जा सकती हैं, असीमित होती हैं। कोई भी मनुष्य अपनी सभी आवश्यकताओं को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं कर सकता। किसी समाज के सभी सदस्यों की आवश्यकता को किसी निश्चित समय में पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य की आवश्यकताएं दिन–प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। कुछ वर्ष पूर्व रंगीन टेलीविजन की कोई मांग नहीं थी परन्तु अब लगभग प्रत्येक परिवार रंगीन टेलीविजन खरीदना चाहता है। समय के साथ–साथ वीडियो कैमरों, कीमती कारों, वी.सी.आर., डीलक्स कार, कम्प्यूटर, कैलकूलेटर इलेक्ट्रॉनिक टाईपराइटर आदि की मांग में काफी वद्धि होने की सम्भावना है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि किसी निश्चित समय में प्रत्येक समाज में असन्तुष्ट आवश्यकताएं होती हैं।

(2) **सीमित या दुर्लभस साधन** (Limited or Scarce Means) : आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए बहुत–सी वस्तुओं तथा सेवाओं की जरूरत होती है। भूख लगने पर रोटी, फल या दूध की आवश्यकता होती है। बीमार होने पर डाक्टर

की सेवा की आवश्यकता पड़ती है। प्यास लगने पर पानी की आवश्यकता होती है। सांस लेने के लिए वायु की आवश्यकता होती है। आप यह भी जानते हैं कि पानी तथा वायु को प्राप्त करने के लिए आपको कोई त्याग नहीं करना पड़ता अथवा कोई कीमत नहीं देनी पड़ती। इसके विपरीत रोटी, फल, दूध तथा डाक्टर की सेवाओं को प्राप्त करने के लिए आपको अपनी किसी वस्तु या सेवा का त्याग करना पड़ेगा अथवा मुद्रा के रूप में कीमत देनी पड़ती है। इस आधार पर आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने वाली वस्तुओं तथा सेवाओं को दो भागों में बांटा जा सकता हैः (1) **निःशुल्क पदार्थ :** उन वस्तुओं तथा सेवाओं को जिन्हें प्राप्त करने के लिए हमें कीमत देनी पड़ती है अथवा किसी दूसरी वस्तु या सेवा का त्याग करना पड़ता है, आर्थिक पदार्थ कहा जाता है। आर्थिक पदार्थ को **सीमित साधन** या **धन** भी कहा जाता है, जैसेः रोटी, फल आदि वस्तुएं, डाक्टर, वकील आदि की सेवाएं। **इन पदार्थों को सीमित इसलिए कहा जाता है क्योंकि इनकी मांग, इनकी पूर्ति से अधिक होती है।** आवश्यकताओं को पूरा करने वाले अधिकतर साधन सीमित होते हैं। यहां सीमित शब्द का प्रयोग **सापेक्ष** (Relative) रूप से किया गया है। **हम उन साधन को सीमित कहते हैं जिसकी मांग उसकी पूर्ति की तुलना में अधिक होती है।** मान लो हम 30 किलोग्राम सेब की एक पेटी खरीदते हैं, जिसमें 25 किलोग्राम सेब अच्छी श्रेणी के हैं परन्तु 5 किलोग्राम सेब गले हुए हैं। हम उन गले हुए सेबों को फेंक देते हैं। ये फेंके गए 5 किलो सेब दुर्लभ नहीं हैं; बल्कि इसके विपरीत 25 किलोग्राम बढ़िया सेब, इन 5 किलोग्राम गले हुए सेबों की तुलना में, अधिक होते हुए भी दुर्लभ हैं क्योंकि इनकी मांग पूर्ति से अधिक है। **आर्थिक पदार्थ दुर्लभ होते हैं क्योंकि इनका उत्पादन करने वाले साधन** (Resources) **भी दुर्लभ होते हैं।** साधनों से हमारा अभिप्राय **प्राकृतिक, मानवीय तथा मनुष्य द्वारा निर्मित** उन साधनों से है जिनके द्वारा वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाता है। इनके अन्तर्गत कारखाना, खेत, मशीनें, औज़ार, विभिन्न प्रकार का श्रम और उनकी योग्यताएं सभी प्रकार के खनिज पदार्थ आदि शामिल किए जाते हैं। अध्ययन की सरलता की दष्टि से इन साधनों का चार विभिन्न वर्गों में वर्गीकरण किया जाता है।

(i) भूमि (Land) : **भूमि से अभिप्राय उन सब प्राकृतिक साधनों से है जो प्रकृति के निःशुल्क उपहार हैं** तथा जिन्हें उत्पादन प्रक्रिया में प्रयोग किया जाता है। इन साधनों में भूमि, खजिन, पैट्रोलियम, जल, सूर्य की रोशनी, नदियां, वन आदि शामिल किये जाते हैं।

(ii) श्रम (Labour) : अर्थशास्त्र में श्रम से अभिप्राय उन सब **भौतिक तथा मानसिक योग्यताओं से है जिनका वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में प्रयोग किया जाता है।** इसके अन्तर्गत सभी प्रकार की सेवाओं को शामिल किया जाता है, चाहे वह घरेलू नौकर की सेवाएं हैं अथवा एक इंजीनियर की सेवाएं हैं।

(iii) पूंजी (Capital) : **पूंजी से अभिप्राय मनुष्य द्वारा निर्मित उत्पादन** (वितरण, भण्डार, यातायात आदि) **साधनों से है जिनके फलस्वरूप अधिक उत्पादन किया जा सकता है।** इसके अन्तर्गत मशीनें, यन्त्र, यातायात के साधन, दफ्तर के भवन, कारखाने आदि शामिल किये जाते हैं।

(iv) उद्यम (Enterprise) : **उद्यम से अभिप्राय जोखिम उठाने, व्यवसाय का संचालन करने आदि योग्यताओं से है जिनके फलस्वरूप उत्पादन का संगठन करना सम्भव होता है।** एक उद्यमी अपने समय, श्रम और पूंजी का जोखिम उठाता है तथा उत्पादन सम्बन्धी निर्णय के लिए उत्तरदायी होता है।

उत्पादन के सभी साधन अर्थात् **श्रम, पूंजी तथा उद्यम सीमित होते हैं, इसका अर्थ यह है कि इनकी पूर्ति इनकी मांग की तुलना में कम होती है और इनको प्राप्त करने के लिए कुछ कीमत देनी पड़ती है।** यद्यपि भारतीय अर्थव्यवस्था में बहुत अधिक श्रम शक्ति है परन्तु वह अनन्त नहीं है और न ही निःशुल्क उपलब्ध है। इसी प्रकार खेती योग्य समस्त भूमि हमारी कृषि सम्बन्धी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं है। **वास्तव में साधनों के सीमित होने का अर्थ यह है कि असीमित आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए वे पर्याप्त नहीं है।** यद्यपि समय के साथ–साथ साधनों की उपलब्धि बढ़ती जाती है परन्तु वे हमारी सभी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने में अपर्याप्त रहते हैं क्योंकि आवश्यकताएं भी बढ़ती जाती हैं। **यद्यपि उत्पादन के साधन भी असीमित होते तो कोई आर्थिक समस्या उत्पन्न नहीं होती।** वास्तव में तब अर्थशास्त्र जैसा विषय भी नहीं होता। अतएव **दुर्लभता** आर्थिक समस्याओं का मूल कारण है। (Scarcity is the root cause of economic problems.)

उत्पादन के साधनों की एक और भी विशेषता है कि इनके **वैकल्पिक प्रयोग** (Alternative Uses)) होते हैं। लकड़ी का प्रयोग फर्नीचर बनाने में, खेल का सामान, मकान के दरवाजे, रेल के डिब्बे तथा अन्य कार्यों के लिए किया जा सकता है। **साधनों के वैकल्पिक प्रयोग होने के फलस्वरूप चुनाव की समस्या** (Problem of Choice) **उत्पन्न होती है।** यह

चुनाव की समस्या ही आर्थिक समस्या है। यदि हम किसी साधन का एक विकल्प में प्रयोग करते हैं तो हमें दूसरे विकल्प का त्याग करना पड़ेगा। हम एक **विकल्प** (Alternative) को प्राप्त करने के लिए जिस विकल्प का त्याग करते हैं वह प्राप्त किए गए विकल्प की **अवसर लागत** (Opportunity Cost) कहलायेगा। **अवसर लागत एक निश्चित उद्देश्य के लिए साधनों के प्रयोग की वह लागत है जो उन साधनों का सर्वोत्तम वैकल्पिक प्रयोग नहीं कर सकने के कारण त्यागे जाने वाले लाभ** (Benefits) **के द्वारा मापी जाती है।** अवसर लागत की धारणा, एक वस्तु की प्राप्त मात्रा की लागत को अन्य वस्तुओं की मात्रा के रूप में जो उसके बदले में प्राप्त की जा सकती थी, को माप कर चुनाव की समस्या पर बल देती है, संक्षेप में, **साधनों का सीमित होना तथा इनका वैकल्पिक प्रयोग होना आर्थिक समस्याओं के उत्पन्न होने का मुख्य कारण है।**

चूंकि एक अर्थव्यवस्था अपनी आवश्यकता की सभी वस्तुओं व सेवाओं का उत्पादन नहीं कर सकती, अन्य शब्दों में, वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए प्रत्येक वस्तु का उत्पादन नहीं कर सकती, इसलिए **उसके सम्मुख कुछ आधारभूत समस्याएं होती हैं जिनके सम्बन्ध में उसे चुनाव करना पड़ता है। इन समस्याओं को ही अर्थव्यवस्था की आधारभूत समस्याएं कहा जाता है।**

2. एक आर्थिक प्रणाली की आधारभूत समस्याएं (Basic Problems of an Economic System)

प्रत्येक आर्थिक प्रणाली की कुछ **आधारभूत** (Basic) आर्थिक समस्याएं होती हैं। इन समस्याओं को एक अर्थव्यवस्था की **केन्द्रीय समस्याएं** (Central Problems) भी कहा जाता है। एक अर्थव्यवस्था की आधारभूत समस्याओं की संख्या विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न प्रकार से दी है। **प्रो. सैम्युअलसन** के अनुसार आधारभूत समस्याएं तीन हैं। **प्रो. हॉम** के अनुसार सात, **प्रो. सिटगलर** के अनुसार चार तथा **लेफ्टविचर** के अनुसार पांच हैं। हम यहां अर्थव्यवस्था की निम्नलिखित आधारभूत समस्याओं का अध्ययन करेंगे:

(1) **किन वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाये तथा कितनी मात्रा में किया जाए?**

(2) **उत्पादन किस प्रकार किया जाए?** (How to produce?)

(3) **उत्पादन किसके लिए किया जाए?** (For whom to produce?)

(4) **साधनों का पूर्ण प्रयोग या पूर्ण रोजगार कैसे हो?** (How to achieve fuller utilisation of resources?)

(5) **उत्पादन तथा वितरण में कुशलता कैसे प्राप्त हो?** (How to achieve efficiency in production and distribution?)

(6) **आर्थिक विकास में वद्धि कैसे हो?** (How to accelerate economic growth?)

इन सभी समस्याओं का विस्तत विवरण आगे दिया गया है।

(1) किन वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाये तथा कितनी मात्रा में किया जाए? अथवा सीमित साधनों के बंटवारे की समस्या

(What to Produce and How Much to Produce? or Problem of Allocation of Scarce Resources)

प्रत्येक अर्थव्यवस्था की सबसे पहली समस्या यह है कि कौन–सी वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन दुर्लभ साधनों द्वारा किया जाए जिससे कि लोगों को अधिकतम आवश्यकताओं को सन्तुष्ट किया जा सके। इस समस्या से उत्पन्न होने का मुख्य कारण यह है कि आवश्यकताओं की तुलना में साधन सीमित होते हैं। अतएव **यह समस्या वास्तव में सीमित साधनों के बंटवारे की समस्या** (Allocation of Scarce Resources) **है।** वैकल्पिक उपयोगों में सीमित साधनों का बंटवारा, **साधन बंटवारा** (Resource Allocation) कहलाता है। वस्तुओं के विशेष संयोग के उत्पादन के चुनाव का अर्थ है उन वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों में साधनों के विशेष बंटवारे का चुनाव करना। उदाहरण के लिये, एक वस्तु की अधिक मात्रा का उत्पादन करने के लिए साधनों की अधिक मात्रा का इसके उत्पादन के लिए बंटवारा करना होगा। प्रत्येक अर्थव्यवस्था को यह चुनाव करना पड़ता है कि किन आवश्यकताओं को सन्तुष्ट किया जाए तथा किन का त्याग किया जाए। अन्य शब्दों में, साधनों के उपयुक्त बंटवारे के लिए समाज को अपनी जरूरतों को प्राथमिकता के आधार पर बांटना होगा। जिन आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने का निर्णय ले लिया जाता है, उनके विषय में दो बातें तय करनी पड़ती हैं :

(a) कौन-सी वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाये (What Goods and Services are to be Produced?) : एक तो यह निर्णय लेना पड़ता है कि **कौन-सी वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाये।** उदाहरण के लिए, कौन-

सी **उपभोक्ता वस्तुओं** (Consumer Goods) जैसे–चीनी, कपड़े, गेहूं, घी आदि का उत्पादन किया जाये तथा कौन–सी **पूंजीगत वस्तुओं** (Capital Goods) जैसेः मशीनों, ट्रैक्टरों आदि का उत्पादन किया जाए। यदि अर्थव्यवस्था का उद्देश्य वर्तमान आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करना होता है। तो उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन किया जायेगा। इसकी विपरीत यदि अर्थव्यवस्था का उद्देश्य वर्तमान उत्पादन क्षमता को बढ़ाकर भविष्य में अधिक आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करना है तो पूंजीगत वस्तुओं का अधिक उत्पादन किया जायेगा। इसी प्रकार यह चुनाव करना पड़ता है कि कौन–सी **युद्धकालीन वस्तुओं** (Wartime Goods) जैसेः बन्दूकों, तोपों, टैंकों तथा कौन–सी **शान्तिकालीन वस्तुओं** (Peace Time Goods) जैसेः कपड़ा, अनाज, रेडियो आदि का उत्पादन किया जाए। यदि अर्थव्यवस्था का उद्देश्य देश की सुरक्षा को अधिक महत्व देना है तो युद्धकालीन वस्तुओं का अधिक उत्पादन किया जायेगा। इसके विपरीत यदि अर्थव्यवस्था का उद्देश्य **आर्थिक कल्याण** को अधिक महत्त्व देना है तो **शान्तिकालीन वस्तुओं** (Peace Time Goods) का अधिक उत्पादन किया जायेगा।

(b) वस्तुओं का कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाये (How much to Produce) : जब अर्थव्यवस्था यह तय कर लेती है कि कौन–सी वस्तुओं या सेवाओं का उत्पादन करना है तो उसे यह भी निर्णय लेना पड़ता है कि **उन वस्तुओं का कितनी मात्रा में उत्पादन किया जाए।** यह चुनाव करना पड़ता है कि **उपभोक्ता वस्तुओं** का कितना उत्पादन किया जाए तथा **पूंजीगत वस्तुओं** का उत्पादन किया जाये। यह निर्णय इस जानकारी पर निर्भर करता है कि उपलब्ध साधनों के द्वारा विभिन्न वस्तुओं की कितनी मात्रा का उत्पादन सम्भव है। यह जानकारी उत्पादन सम्भावना वक्र द्वारा प्राप्त की जा सकती है। उदाहरण के लिए, यदि कोई अर्थव्यवस्था एक निश्चित समय में अपने सीमित साधनों द्वारा कपड़े तथा गेहूं का अधिक उत्पादन करना चाहेगी तो उसे मशीनों का कम उत्पादन करना पड़ेगा। **पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं** जैसे अमेरिका में इस समस्या का समाधान मुख्यतः **कीमत संयंत्र** (Price Mechanism) की सहायता से किया जाता है। कीमत संयंत्र से अभिप्राय **सापेक्ष कीमत ढांचे से है जिसका निर्धारण मांग तथा पूर्ति की बाजार शक्तियों की स्वतन्त्र प्रक्रिया द्वारा होता है।** (Price mechanism refers to the relative price structure as determined by the free play of the market forces of demand and supply) **समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं** जैसे–चीन में इस समस्या का समाधान योजना अधिकारी तथा सरकार द्वारा किया जाता है। उनके द्वारा यह निर्णय लिया जाता है कि कौन–सी वस्तुओं का उत्पादन किया जाना है तथा कितनी मात्रा में किया जाना है। **मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं** जैसे—भारत में इस समस्या का समाधान **कीमत संयंत्र** तथा **केन्द्रीय योजना अधिकारी** जिसे आमतौर से **योजना आयोग** (Planning Commission) कहा जाता है, दोनों के द्वारा किया जाता है।

2. उत्पादन कैसे किया जाये? (How to Produce?)

अर्थव्यवस्था की दूसरी आधारभूत समस्या यह है कि उत्पादन कैसे किया जाये? यह पहली समस्या पर ही आधारित है। हमें पहले यह निर्धारित करना होगा कि कौन–सी वस्तुओं का कितनी मात्रा में उत्पादन करना है। उसके पश्चात् हम यह निर्धारित कर सकेंगे कि उन वस्तुओं का उत्पादन कैसे किया जाये? **यह समस्या उत्पादन तकनीक के चुनाव से सम्बन्धित है।** इस सम्बन्ध में तीन प्रश्न उत्पन्न होते हैं जैसेः

(a) साधनों को उन वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन में किस प्रकार प्रयोग किया जाये जिनकी लोगों को आवश्यकता है तथा साधनों को उन वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन के लिए प्रयोग करने से रोका जाये जिनकी लोगों को आवश्यकता नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि किसी अर्थव्यवस्था ने यह निर्णय ले लिया है कि गेहूं तथा कपड़े का उत्पादन किया जायेगा तो उसे यह देखना पड़ेगा कि साधनों का केवल गेहूं तथा कपड़े के उत्पादन में प्रयोग किया जाये तथा अन्य वस्तुओं के उत्पादन में उनके प्रयोग को रोका जाये।

(b) अर्थव्यवस्था को यह भी देखना होगा कि जो फर्में उन वस्तुओं का उत्पादन कर रही हैं जिनके उत्पादन के सम्बन्ध में निर्णय लिए जा चुके हैं, उन्हें उन वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करने के लिए उपयुक्त साधन प्राप्त होने चाहिए। अन्य शब्दों में, गेहूं तथा कपड़े का उत्पादन करने वाली अर्थव्यवस्था को ऐसे किसानों तथा फर्मों का चुनाव करना पड़ेगा जो इन वस्तुओं का उत्पादन करना चाहते हैं। इन किसानों तथा फर्मों के लिए उन साधनों की उपयुक्त मात्रा में व्यवस्था करनी पड़ेगी जो इन दोनों वस्तुओं के उत्पादन के लिए आवश्यक है।

(c) इस सम्बन्ध में अर्थव्यवस्था को यह भी तय करना होगा कि पूर्व निर्धारित वस्तुओं के एक निश्चित स्वर का उत्पादन करने के लिए साधनों का सबसे **कुशलतम संयोग** (Efficient Combination) कौन–सा होगा। अन्य शब्दों में, यह निर्धारित करना होगा कि उत्पादन के लिए सबसे उपयुक्त **तकनीक** (Technology) कौन–सी होगी। उदाहरण के लिए, कपड़े का

उत्पादन हथकरघों की सहायता से हो सकता है अथवा आधुनिक मशीनों द्वारा किया जा सकता है। गेहूं की खेती हल व साधारण मजूदरों द्वारा की जा सकती है अथवा ट्रैक्टरों व कुशलतम मजदूरों द्वारा भी की जा सकती है। अतएव यह समस्या **तकनीक के चुनाव** (Choice of Technology) की समस्या है। यह समस्या भी साधनों की दुर्लभता के कारण उत्पन्न होती है। यदि साधन असीमित मात्रा में उपलब्ध होते तो किसी भी तकनीक को अपनाया जा सकता था। परन्तु विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं में विभिन्न प्रकार के साधन उपलब्ध होते हैं। इसलिए अलग–अलग तकनीक को अपनाया जाता है। उदाहरण के लिए, अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में श्रम अधिक मात्रा में पाया जाता है तथा मजदूरी की दरें कम हैं परन्तु पूंजी का अभाव है तथा ब्याज की दरें ऊंची हैं इसलिए प्रायः उत्पादन **श्रम प्रधान तकनीक** के द्वारा किया जाता है। इसके विपरीत विकसित अर्थव्यवस्थाओं में **पूंजी प्रधान तकनीक** का अधिक प्रयोग किया जाता है।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में इस समस्या का समाधान **साधनों की उपलब्धि** तथा उनके **सापेक्ष मूल्यों** (Relative Prices) के आधार पर किया जाता है। परन्तु **समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं** में इस समस्या का समाधान **योजना अधिकारी** द्वारा योजना के लक्ष्य के आधार पर किया जाता है।

3. उत्पादन किसके लिए किया जाये? या आय के वितरण की समस्या
(For Whom to Produce? Or Problem of Distribution of Income)

एक अर्थव्यवस्था को यह भी निर्णय लेना पड़ता है कि उत्पादन किसके लिए किया जाये अर्थात् उत्पादन का **वितरण** (Distribution) कैसे किया जाये। इस समस्या का सम्बन्ध उस प्रश्न से है कि अर्थव्यवस्था अपने कुल उत्पादन का विभिन्न आर्थिक इकाइयों में किस प्रकार वितरण करती है। उपभोक्ता वस्तुओं का अर्थव्यवस्था के घरेलू क्षेत्र में या विभिन्न उपभोक्ताओं में किस प्रकार वितरण किया जाए। क्या उत्पादन का वितरण आवश्यकता के आधार पर (On the Basis of Need) किया जाये अथवा उत्पादन के किसी साधन के उत्पादन में योगदान के आधार पर (On the Basis of Contribution to Production) किया जाये? उत्पादन के वितरण में असमानता किस सीमा तक उचित है। उत्पादन के प्रत्येक साधन को कुल उत्पादन या राष्ट्रीय आय का कितना हिस्सा दिया जाये अर्थात् मजदूरी के रूप में श्रमिक को, ब्याज के रूप में पूंजीपति को, लगान के रूप में भूस्वामी को तथा लाभ के रूप में उद्यमी को दिया जाये। **पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में यह वितरण असमान होता है जबकि समाजवादी अर्थव्यवस्था में यह वितरण अधिक समान तथा न्यायपूर्ण होता है।**

अर्थव्यवस्था को यह भी निर्णय लेना पड़ता है कि पूंजीगत वस्तुओं के उत्पादन का विभिन्न उद्योगों तथा इन उद्योगों की विभिन्न फर्मों में किस प्रकार वितरण किया जाये। इसी प्रकार यह भी तय करना पड़ता है कि, सरकार को उत्पादन का कितना भाग प्राप्त होगा। संक्षेप में **'किसके लिए उत्पादन किया जाये'** की समस्या का सम्बन्ध इस तथ्य से है कि अर्थव्यवस्था अपने उत्पादन का घरेलू क्षेत्र, व्यावसायिक क्षेत्र तथा सरकारी क्षेत्र के मध्य में वितरण किस प्रकार करेगी।

4. साधनों का पूर्ण प्रयोग कैसे प्राप्त हो?
(How to Achieve Fuller Utilisation of Resources?)

एक अर्थव्यवस्था की चौथी मुख्य समस्या सभी साधनों का पूर्ण उपयोग करना है। **प्रारम्भ में प्रत्येक समाज को यह तय करना पड़ता है कि वह किस स्तर तक अपने साधनों का उपयोग करने को तैयार है।** उदाहरण के लिए, यदि अर्थव्यवस्था प्राकृतिक साधनों जैसे—लोहा, कोयला, पैट्रोल आदि का वर्तमान समय में तेजी से शोषण करेगी तो भविष्य में इन साधनों की उपलब्धि कम हो जायेगी। इसके विपरीत यदि वर्तमान समय में इन साधनों का शोषण कम किया जायेगा तो भविष्य में इनकी उपलब्धि अधिक होगी। अतएव प्रत्येक अर्थव्यवस्था को यह तय करना पड़ता है कि साधनों के प्रयोग का स्तर कितना होगा। **साधनों के प्रयोग का स्तर निर्धारित करने के पश्चात् एक अर्थव्यवस्था को तय करना पड़ता है कि उपलब्ध साधनों का पूर्ण उपयोग किस प्रकार किया जाये।** प्रत्येक अर्थव्यवस्था **अनैच्छिक बेरोजगारी** (Involuntary Unemployment) तथा अत्यधिक या **आधिक्य क्षमता** (Excess Capacity) को दूर करने का प्रत्यन करती है। अनैच्छिक बेरोजगारी वह स्थिति है जिसमें लोग मजदूरी की वर्तमान दर पर काम करने को तैयार होते हैं परन्तु उन्हें काम नहीं मिलता। **आधिक्य क्षमता** (Excess Capacity) से अभिप्राय है उपलब्ध उत्पादन क्षमता का पूरा प्रयोग नहीं होना।

5. उत्पादन तथा वितरण में कुशलता कैसे प्राप्त हो?

(How to Attain Efficiency in Production and Distribution?)

प्रत्येक अर्थव्यवस्था की एक आधारभूत समस्या, साधनों के उत्पादन तथा वितरण में **कुशलता** (Efficiency) प्राप्त करना है। **पेरीटो** (Pareto) के अनुसार, **साधनों का कुशलतम उत्पादन वह स्थिति है जिससे किसी एक वस्तु का उत्पादन तब तक नहीं बढ़ाया जा सकता जब तक किसी दूसरी वस्तु का उत्पादन कम नहीं किया जाता। इसी प्रकार उत्पादन का कुशलतम वितरण वह स्थिति है जिसमें किसी व्यक्ति के उपभोग को तब तक नहीं बढ़ाया जा सकता है जब तक किसी दूसरे व्यक्ति का उपयोग कम नहीं किया जाता है।** अन्य शब्दों में **पेरीटो** के अनुसार, **कुशलता की स्थिति वह स्थिति है जिसमें किसी एक को हानि पहुंचाये बिना किसी दूसरे को लाभ नहीं पहुंचाया जा सकता।** (Pareto's efficiency is a situation in which it is not possible to make someone better off without making someone worse off.)

यह एक आदर्श समाधान है जिसे प्रत्येक अर्थव्यवस्था प्राप्त करने का प्रयास करती है। यदि गम्भीरतापूर्वक विश्लेषण किया जाये तो प्रकट होगा कि **उत्पादन की कुशलता** की समस्या "**उत्पादन कैसे किया जाये?",** (How to Produce?) की समस्या का ही प्रतिरूप है। इसी प्रकार वितरण की कुशलता की समस्या "**किसके लिए उत्पादन किया जाये?"** (For whom to produce) की समस्या का ही प्रतिरूप है।

6. आर्थिक विकास में वद्धि कैसे हो? (How to Accelerate Economic Growth?)

प्रत्येक अर्थव्यवस्था की एक मुख्य समस्या उत्पादन में वद्धि करने की समस्या है। इस समस्या को ही आर्थिक विकास की समस्या कहा जाता है। प्रत्येक अर्थव्यवस्था की यह मुख्य समस्या है कि वह अपनी जनसंख्या के जीवन स्तर को ऊंचा उठाना चाहती है। इस समस्या का सम्बन्ध अल्पविकसित देशों में पाए जाने वाले **निर्धनता का दुष्चक्र** (Vicious Circle of Poverty) को तोड़ने, बचत, निवेश या पूंजी निर्माण की दर को बढ़ाने से है। आर्थिक विकास की दर को बढ़ाने के लिए देश की सामाजिक तथा संस्थागत संस्थाओं जैसेः साधनों के स्वामित्व, भूमि सुधार तथा उत्पादन की तकनीक में आधारभूत परिवर्तन किया जाना चाहिए। **नर्कसे** (Nurkse)**, हिगिन्स** (Higgins)**,** तथा **आर्थर लुईस** (Arthur Lewis) आदि के अनुसार इस समस्या का सम्बन्ध पूंजी की कमी तथा तकनीक के पिछड़ेपन से है।

कीमत संयंत्र से क्या अभिप्राय है? (What is Meant by Price Mechanism)

एक स्वतन्त्र उद्यम अर्थव्यवस्था या पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आधारभूत आर्थिक समस्याओं का समाधान **कीमत संयंत्र** (Price Mechanism) की सहायता से किया जाता है। **कीमत संयंत्र से अभिप्राय यह है कि सभी वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमतें बिना किसी बाहरी हस्तक्षेप के मांग तथा पूर्ति तय होती है।** किसी निश्चित समय में किसी वस्तु के विक्रेता उस वस्तु की विभिन्न मात्राएं विभिन्न कीमतों पर बेचने को तैयार होते हैं। अपने स्वहित को ध्यान में रखते हुए वे वस्तु की अधिक मात्रा अधिक कीमत पर बेचने के लिए तैयार है। इसके विपरीत वस्तु के क्रेता विभिन्न कीमतों पर वस्तु की विभिन्न मात्रा खरीदने को तैयार होते हैं। वस्तु की अधिक कीमत पर वे उसकी मात्रा कम खरीदने को तैयार होते हैं, तथा कम कीमत पर अधिक मात्रा खरीदना चाहते हैं। **बाजार में वस्तु की कीमत निर्धारित होगी जिस पर वस्तु की मांग तथा पूर्ति बराबर हो।** इस कीमत को **सन्तुलन कीमत** (Equilibrium Price) कहा जाता है। यदि किसी कारणवश मांग तथा पूर्ति में असन्तुलन हो जाता है अर्थात् मांग तथा पूर्ति एक–दूसरे के बराबर नहीं होते तो कीमत में स्वयं परिवर्तन हो जायेगा। इस परिवर्तन द्वारा मांग तथा पूर्ति में फिर से सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

कीमत संयंत्र का कार्यकरण (Working of Price Mechanism)

एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के वस्तु बाजार में कीमत संयंत्र को रेखाचित्र 1 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इस चित्र में OY अक्ष पर वस्तु की कीमत तथा OX अक्ष पर वस्तु की मांग तथा पूर्ति अर्थात् मात्रा को प्रकट किया गया है। जब वस्तु की कीमत OP तथा क्रेता वस्तु की OL मात्रा खरीदने को तैयार है तथा विक्रेता OK मात्रा बेचने को तैयार है। अतएवं OP कीमत पर वस्तु की पूर्ति OK उसकी मांग OL से अधिक होगी। OK>OL अर्थात् LK **पूर्ति आधिक्य** (Excess Supply) होगा। इस स्थिति में कीमत कम होने की प्रवत्ति प्रकट करेगी क्योंकि विक्रेताओं में

प्रतिस्पर्धा हो जाएगी। इसके विपरीत जब कीमत OT होगी, वस्तु की मांग ON होगी तथा पूर्ति OM होगी। इस प्रकार वस्तु की मांग उसकी पूर्ति से अधिक होगी। ON>OM अर्थात् MIN **मांग आधिक्य** (Excess Demand) होगी। इस अवस्था में क्रेताओं में वस्तु खरीदने के लिए प्रतिस्पर्धा के कारण कीमत अधिक होने की प्रवत्ति प्रकट करेगी। यदि कीमत OR निर्धारित होती है तो **मांग तथा पूर्ति एक-दूसरे के बराबर होगी** इस कीमत पर वस्तु के विक्रेता जितनी पूर्ति करना चाहेंगे क्रेता उतनी ही मांग करेंगे। अतएवं कीमत में किसी प्रकार के परिवर्तन की प्रवत्ति नहीं पाई जायेगी। यदि कीमत OR से अधिक या कम हो जाती है तो वह वापस लौटकर OR के बराबर हो जायेगी। OR कीमत को **सन्तुलन कीमत** (Equilibrium Price) कहा जायेगा। इस कीमत पर वस्तु की मांग तथा पूर्ति में समानता अर्थात् सन्तुलन पाया जाता है।

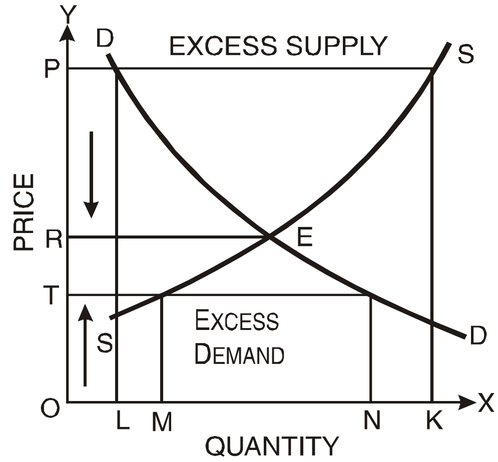

चित्र 1.1

कीमत संयंत्र, **साधन बाजार** (Factor Market) में उत्पादन के साधनों जैसे–भूमि, श्रम, पूंजी आदि की मांग तथा पूर्ति में उसी प्रकार सन्तुलन स्थापित करता है जिस प्रकार वस्तु बाजार में करता है। साधनों की कीमत अर्थात् लगान, ब्याज, मजदूरी तथा लाभ साधनों की आय होती है। विभिन्न साधनों की पूर्ति विभिन्न **गहस्थ** (Household) करते हैं तथा उनकी मांग उत्पादक करते हैं। इन साधनों की मांग तथा पूर्ति द्वारा ही इनकी कीमत निर्धारित होती है तथा इनकी मांग तथा पूर्ति में असमानता हो जाने पर साधन कीमतों में होने वाले परिवर्तनों द्वारा फिर से समानता स्थापित हो जाती है या सन्तुलन की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

विक्रेता के लिए कीमत एक पुरस्कार है तथा क्रेता के लिए कीमत उसके द्वारा किया जाने वाला भुगतान है। **पुरस्कार तथा भुगतान की इस प्रणाली को ही कीमत संयंत्र** (Price Mechanism) **कहा जाता है।** प्रत्येक विक्रेता तथा क्रेता बाजार में प्रचलित कीमतों के आधार पर ही वस्तु की मांग तथा पूर्ति सम्बन्धी निर्णय लेता है। वस्तु की मांग तथा पूर्ति सम्बन्धी निर्णय **बाजार** (Market) में लिए जाते हैं। बाजार में ही क्रेताओं तथा विक्रेताओं के परस्पर सौदे होते हैं। जब कोई उपभोक्ता किसी उत्पादक से कोई वस्तु खरीदता है तब वह मुद्रा में भुगतान करता है। **प्रति इकाई भुगतान को ही वस्तु की कीमत** (Price) कहा जाता है। सभी वस्तुओं, सेवाओं तथा उत्पादन में साधनों की अपनी कीमतें होती हैं। वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण **वस्तु बाजार** (Goods Market) में होता है तथा उत्पादन के साधनों जैसे–श्रम की कीमतों का निर्धारण **साधन बाजार** (Factor Market) में होता है। अतएवं बाजार दो प्रकार का होता है:

(1) वस्तु बाजार (Goods Market) : वह बाजार है जहां वस्तुओं तथा सेवाओं का क्रय–विक्रय होता है। **(2) साधन बाजार** (Factor Market): वह बाजार है जहां उत्पादन के साधनों जैसे–श्रम की सेवाओं का क्रय–विक्रय होता है।

कीमत संयंत्र की क्रिया विधि को निम्नलिखित चित्र–1.2 की सहायता से व्याख्या की जा सकती है:–

(a) गहस्थ (Household) तथा **उत्पादक** (Producer), **वस्तु बाजार** (जहां वस्तुएं बेची व खरीदी जाती हैं) और **साधन बाजार** (जहां उत्पादक सेवाएं खरीदी व बेची जाती है) के द्वारा परस्पर सम्बन्धित हैं। गहस्थ, वस्तु बाजार में खरीददार के रूप में कार्य करते हैं तथा साधन बाजार में विक्रेता के रूप में कार्य करते हैं। इसके विपरीत उत्पादक वस्तु बाजार में विक्रेता के रूप में तथा साधन बाजार में क्रेता के रूप में कार्य करते हैं।

(b) गहस्थ (Household) : अपने व्यय के द्वारा अपनी आवश्यकताओं के बारे में उत्पादकों या फर्मों को अवगत करा देते हैं। उत्पादक उन्हीं वस्तुओं का उत्पादन करते हैं जिन्हें उपभोक्ता खरीदना चाहते हैं क्योंकि उन वस्तुओं की बाजार में ऊंची कीमते मिलती हैं। इस प्रकार कीमत संयंत्र उत्पादकों का यह मार्गदर्शन करता है कि उन्हें **क्या** (What) **और कैसे** (How) उत्पादन करना चाहिए।

(c) उपभोक्ता (Consumer) : वस्तु बाजार में विभिन्न वस्तुओं को खरीदने में अपनी आय का व्यय इस प्रकार से करते हैं कि उन्हें अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो।

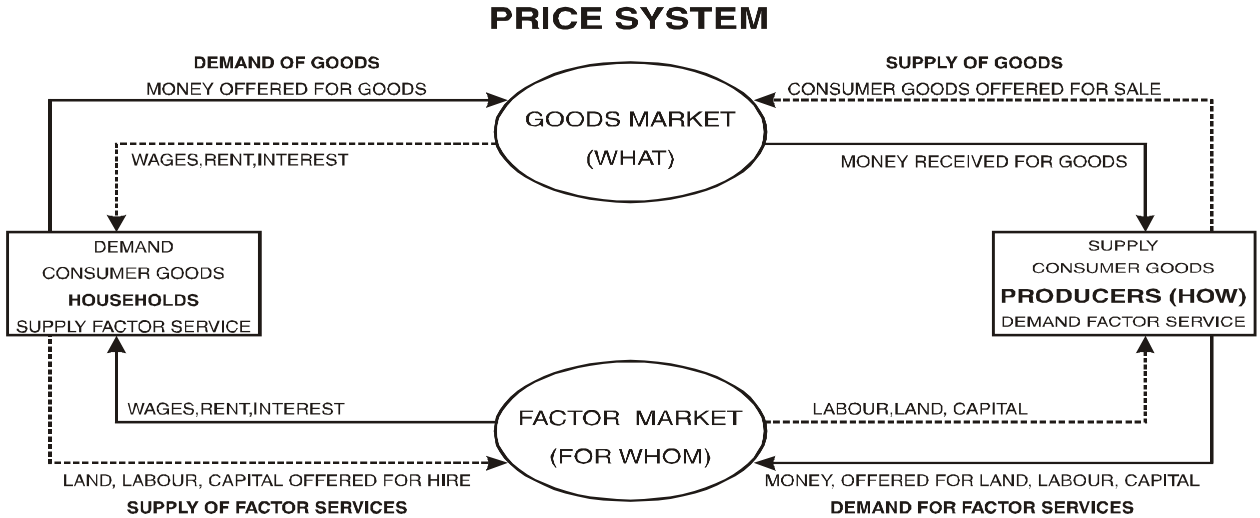

चित्र 1.2

(d) उत्पादक (Producers) : वस्तुओं का उत्पादन इस प्रकार करने का प्रयत्न करते हैं कि उत्पादन लागत न्यूनतम हो। इसके लिए वे न्यूनतम उत्पादन लागत वाली विधि को अपनाते हैं। उत्पादन लागत में उत्पादन के साधनों की कीमतें शामिल होती हैं। उत्पादक का उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वे उन वस्तुओं की पूर्ति करेंगे जिनकी उपभोक्ता द्वारा मांग की जाती है। **वह अवस्था जिसमें वस्तुओं की मांग वस्तुओं की पूर्ति के बराबर हो जाए सन्तुलन अवस्था कहलाती है।**

(e) साधन बाजार में मांग तथा पूर्ति की शक्तियां ही उत्पादन के साधनों की कीमतों जैसे—श्रम की कीमत, **मजदूरी,** पूंजी की कीमत **ब्याज,** भूमि की कीमत **लगान** का निर्धारण करती है। यदि किसी साधन की मांग अधिक मात्रा में होती है तो उसकी कीमत बढ़ जाती है। इसके विपरीत जिन साधनों की मांग कम होती है उनकी कीमतें भी अपेक्षाकृत कम होती है। साधन बाजार में भी सन्तुलन की स्थिति उस समय होती है जब साधनों की मांग तथा पूर्ति बराबर हो जाती है।

(f) आय के वितरण की समस्या अर्थात् **किसके लिए उत्पादन किया जाए,** (for whom to produce) का समाधान भी कीमत संयंत्र द्वारा हो जाता है। उद्यमों के लाभ उनके स्वामियों की आय होती है। इसी प्रकार श्रमिकों को उनकी सेवाओं के बदले में जो मजदूरी प्राप्त होती है, यह उनकी आय है। अन्य शब्दों, उत्पादन के साधनों को उनकी सेवाओं के बदले में प्राप्त होने वाली कीमत उनकी आय प्रदर्शित करती है। अतः आय के वितरण की प्रकृति कीमत संयंत्र द्वारा निर्धारित होती है।

संक्षेप में, एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में कीमत संयंत्र वस्तु बाजार एवं साधन बाजार में सन्तुलन स्थापित करना है।

कीमत संयंत्र द्वारा आधारभूत आर्थिक समस्याओं का समाधान

(Solution of Basic Economic Problem by Price Mechanism)

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आधारभूत समस्याओं का समाधान **कीमत संयंत्र** (Price Mechanism) की सहायता से किया जाता है। इस कथन की सत्यता निम्नलिखित विवरण से स्पष्ट हो जाती है।

(1) क्या उत्पादन करना है तथा कितनी मात्रा में करना है? (What to Produce and How Much to Produce?) : एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की केन्द्रीय समस्या है कि **क्या उत्पादन करना है, का समाधान** कीमत संयंत्र की सहायता से किया जाता है। वास्तव में **विक्रेता उन वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करते हैं जिनकी क्रेताओं द्वारा मांग की जाती है।** क्रेता अपनी आवश्यकता का प्रदर्शन किसी वस्तु की एक निश्चित कीमत पर उस वस्तु की एक निश्चित मात्रा की मांग के रूप में करते हैं। यदि उपभोक्ता कॉफी की तुलना में चाय अधिक खरीदना पसंद करते हैं तब उत्पादन के साधनों को कॉफी के उत्पादन के चाय के उत्पादन में लगा दिया जाएगा। उपभोक्ताओं की इस इच्छा की सूचना कीमत संयंत्र द्वारा

उत्पादकों को प्राप्त हो जाती है। यदि उपभोक्ता चाय अधिक और कॉफी कम लेना पसंद करते हैं तब चाय की कीमत बढ़ जाएगी और कॉफी की कीमत कम हो जाएगी। इससे उत्पादक अपने साधनों को कॉफी के उत्पादन से हटाकर चाय के उत्पादन में लगा देंगे क्योंकि चाय अब कॉफी की तुलना में महंगी हो जाएगी। अतः अधिक चाय और कम कॉफी का उत्पादन किया जाएगा। इसके विपरीत विक्रेता वस्तु की केवल उतनी ही मात्रा में बिक्री करेंगे, जिसके द्वारा उन्हें कम से कम वस्तु की उत्पादन लागत प्राप्त हो जाये। **यदि कीमतें अधिक होंगी, तो वे उस वस्तु की अधिक मात्रा का उत्पादन करेंगे। कीमतें कम होने पर वे वस्तु की कम मात्रा का उत्पादन करेंगे।** इस प्रकार कीमत संयंत्र द्वारा केवल यह ही निर्धारित नहीं होता कि क्या उत्पादन किया जायेगा बल्कि यह भी निर्धारित किया जाता है कि उत्पादन कितनी मात्रा में किया जायेगा। वस्तुओं की ऊंची कीमतें उत्पादकों को अधिक उत्पादन करने की प्रेरणा देती हैं तथा उन वस्तुओं के लिए उपभोक्ताओं की ऊंची प्राथमिकता को प्रकट करती हैं। इसके विपरीत वस्तुओं की नीची कीमतें एक ओर उन वस्तुओं के लिए उपभोक्ताओं की नीची प्राथमिकता को प्रकट करती हैं तो दूसरी ओर विक्रेताओं को उन वस्तुओं की पूर्ति कम करने के लिए मजबूर करती है।

तालिका 1.1 : मीटर कपड़े की उत्पादन लागत

तकनीक	श्रम लागत	पूंजी लागत	कुल लागत
1. श्रम प्रधान	5×5=25 **रु.**	2×10=20 **रु.**	45 **रु.**
2. पूंजी प्रधान	2×5=10 **रु.**	5×10=50 **रु.**	60 **रु.**

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि 15 मीटर कपड़े की **श्रम प्रधान तकनीक** से उत्पादन करने की लागत 45 रु. है इसके अन्तर्गत श्रम की 5 इकाइयां तथा पूंजी की 2 इकाइयों का प्रयोग किया जाता है। तथा **पूंजी प्रधान तकनीक** से उत्पादन करने की लागत 60 रु. है। इसके अन्तर्गत श्रम का 2 इकाइयों तथा पूंजी की 5 इकाइयों का प्रयोग किया जाता है। इस स्थिति में **श्रम प्रधान तकनीक** द्वारा उत्पादन किया जायेगा।

इसके विपरीत यदि श्रम की प्रति इकाई लागत बढ़कर 15 रुपये हो जाती है तथा पूंजी की प्रति इकाई लागत पहले के बराबर ही 10 रुपये रहती है तो 15 मीटर कपड़े की उत्पादन लागत को तालिका 3 द्वारा प्रकट किया जा सकता है:

तालिका 1.2 : मीटर कपड़े की उत्पादन लागत

तकनीक	श्रम लागत	पूंजी लागत	कुल लागत
1. श्रम प्रधान	5×15=75 **रु.**	2×10=20 **रु.**	95 **रु.**
2. पूंजी प्रधान	2×15=30 **रु.**	5×10=50 **रु.**	80 **रु.**

उपरोक्त तालिका से ज्ञात होता है कि श्रम की कीमत बढ़ने के फलस्वरूप श्रम प्रधान तकनीक का प्रयोग करने से पूंजी प्रधान तकनीक की तुलना में 15 मीटर कपड़े की उत्पादन लागत अधिक आयेगी अर्थात् 95 रु. आयेगी। इसलिए अब पूंजी प्रधान तकनीक का प्रयोग किया जायेगा। जब उपभोक्ताओं द्वारा किसी वस्तु की अधिक मांग की जायेगी तो वे उसके लिए अधिक कीमत देने को तैयार होंगे। उत्पादक उस वस्तु का अधिक उत्पादन करने के लिए उत्पादन के साधनों को उनकी सेवाओं के लिए अधिक कीमत देना पसन्द करेंगे। इस प्रकार यह निर्धारित हो सकेगा कि **उत्पादन के साधनों का किस वस्तु के उत्पादन में कितना प्रयोग किया जायेगा।** कीमत संयंत्र द्वारा यह भी तय होता है कि जो वस्तुएं उत्पादित की जानी हैं उनका उत्पादन कौन से उत्पादकों को करना है। स्वतन्त्र प्रतियोगिता के कारण केवल वे उत्पादक ही उत्पादन कर सकेंगे जो उत्पादन–न्यूनतम लागत पर करने में समर्थ हैं। अन्य उत्पादक प्रतियोगिता के फलस्वरूप बाजार में नहीं टिक सकेंगे।

(3) उत्पादन किसके लिए किया जाना है? (For Whom to Produce?) : अर्थव्यवस्था की तीसरी केन्द्रीय समस्या अर्थात् **"उत्पादन कौन से लोगों के लिए किया जाना है" का सम्बन्ध वास्तव में कुल उत्पादन के वितरण से है।** कीमत संयंत्र द्वारा किसी वस्तु का गहस्थों में वितरण उनकी कीमत देने की योग्यता तथा इच्छा के आधार पर किया जाता है।

जो उपभोक्ता अधिक कीमत देने के योग्य हैं तथा इच्छुक हैं उनके अधिक उत्पादन किया जायेगा। गहस्थों की वस्तुओं को प्राप्त करने की योग्यता उनकी आय पर निर्भर करती है। उनकी आय उनके द्वारा प्रदान की जाने वाली उत्पादन सेवाओं जैसे–श्रम, भूमि, पूंजी आदि की कीमतों जैसे–मजदूरी, लगान, ब्याज, लाभ द्वारा निर्धारित होती है। उनकी आय के आधार पर कुल उत्पादन में उनका भाग निर्धारित होता है। उत्पादन के विभिन्न साधनों की कीमत या आय का साधन बाजार में उनकी मांग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारण होता है। यदि किसी साधन की मांग उसकी पूर्ति से अधिक है तो उसकी कीमत अथवा आय अधिक होगी। वह साधन अपनी ऊंची आय के कारण वस्तुओं की अधिक मांग कर सकेगा और उसके लिए उत्पादन अधिक किया जायेगा। इसके विपरीत जिस साधन की मांग उसकी पूर्ति से कम है उसकी कीमत या आय भी कम होगी। वे साधन कम वस्तुएं प्राप्त कर सकेंगे। उनके लिए उत्पादन भी कम कियाा जायेगा। इस प्रकार इस समस्या का समाधान भी **कीमत संयंत्र** की सहायता से ही किया जाता है।

(4) पूर्ण रोजगार (Full Employment) : पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार का निर्धारण भी कीमत संयंत्र द्वारा किया जाताा है। पूर्ण रोजगार की मात्रा, उत्पादन की मात्रा पर निर्भर करती है। उत्पादन की मात्रा, निवेश की मात्रा पर निर्भर करती है। निवेश की मात्रा बचत पर निर्भर करती है। बचत तथा निवेश में समानता पूंजी की कीमत अर्थात् **ब्याज की दर** द्वारा निर्धारित होती है। यदि किसी समय कुल बचतें अधिक हैं तथा बेरोजगार की स्थिति पाई जाती है तो ब्याज की दर कम होगी। ब्याज की दर कम होने के कारण निवेश में वद्धि होगी। निदेश में वद्धि होने के फलस्वरूप उत्पादन बढ़ेगा तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त की जा सकेगी। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों का विचार था कि अपूर्ण रोजगार की स्थिति में श्रमिक की कीमत अर्थात् मजदूरी कम होगी। मजदूरी कम होने के कारण श्रमिकों की मांग बढ़ेगी तथा पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त की जा सकेगी। अतएव कीमत संयंत्र में होने वाले परिवर्तनों द्वारा पूंजीवादी अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त कर सकेगी।

(5) आर्थिक विकास (Economic Development) : पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास के उद्देश्य को प्राप्त करने का कार्य भी कीमत संयंत्र द्वारा ही किया जाता है। आर्थिक विकास के लिए उत्पादन की नई तकनीक की आवश्यकता होती है। उत्पादन की नई तकनीक लागू करने के लिए पूंजी की आवश्यकता होती है। **शुम्पीटर** के अनुसार, इन अर्थव्यवस्थाओं में पूंजी को एकत्रित करने तथा नई तकनीकों को लागू करने का कार्य स्वतंत्र उद्यमियों द्वारा किया जाता है। ये **उद्यमी** (Enterpreneurs) अपनी आय लाभ के रूप में प्राप्त करते हैं ये अपने लाभ का अधिक भाग पूंजी निर्माण में लगा देते हैं। इस प्रकार पूंजी की मात्रा में वद्धि होती है। पूंजी की अधिक मात्रा द्वारा नई तकनीकों का प्रयोग सम्भव हो जाता हैं परम्परावादी अर्थशास्त्रियों जैसे–**एडम स्मिथ, मार्क्स** आदि के अनुसार पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं में पाई जाने वाली प्रतियोगिता भी उद्यमियों को नई तकनीकें अपनाने के लिए मजबूर कर देती हैं। इसके फलस्वरूप आर्थिक विकास की सम्भावना बढ़ जाती है।

संक्षेप में, कीमत संयंत्र द्वारा ही एक उत्पादक इस बात का निर्देशन प्राप्त करता है कि **क्या उत्पादन करना है तथा कैसे करना है। अपने स्वहित की पूर्ति के लिए वह उन वस्तुओं का उत्पादन करेगा जिनकी कीमत अधिक होगी तथा उन तकनीकों का प्रयोग करेगा जो उत्पादन लागत कम करेंगी तथा इसके फलस्वरूप लाभ अधिकतम हो सकेंगे।** अन्य शब्दों में, एक उत्पादक का यह निर्णय कि क्या उत्पादन करना है तथा कैसे उत्पादन करना है **लाभ प्रेरणा** पर निर्भर करता है। पूंजीवादी आर्थिक प्रणाली में उत्पादन के वितरण की समस्या का स्वयं ही समाधान हो जाता है। विभिन्न वस्तुओं की मांग द्वारा उनके उत्पादन के लिए प्रयोग की जाने वाली उत्पादन सेवाओं की मांग तथा कीमतें निर्धारित होती हैं इसके फलस्वरूप उत्पादन के साधनों के स्वामियों की आय निर्धारित होती है। उनकी आय के आधार पर कुल उत्पादन में उनका भाग निर्धारित होता है। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि एक अर्थव्यवस्था की केवल केन्द्रीय समस्याएं ही परस्पर निर्भर नहीं हैं बल्कि उनके समाधान भी परस्पर सम्बन्धित हैं। इन्हें परस्पर सम्बन्धित करने का कार्य कीमत संयंत्र द्वारा सम्पन्न किया जाता है। परन्तु कीमत संयंत्र के कुछ दोष हैं जिनके फलस्वरूप पूंजीवादी अर्थव्यवस्थाओं को अपनी समस्याओं का समाधान करने में कई कठिनाइयां आती हैं।

कीमत संयंत्र की सीमाएं या दोष (Limitations or Defects of Price Mechanism)

कीमत संयंत्र की मुख्य सीमाएं या दोष निम्नलिखित हैं :

(1) प्रतियोगिता की समाप्ति (Demise of Competition) : कीमत संयंत्र की मुख्य विशेषता प्रतियोगिता को प्रोत्साहित करना था। इसके फलस्वरूप ही कीमत संयंत्र साधनों का कुशल उत्पादन एवं वितरण कर पाता। परन्तु आलोचकों के अनुसार

कीमत संयंत्र के फलस्वरूप प्रतियोगिता का अन्त हो रहा है। उत्पादकों में अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए **एकाधिकार** को अपनाने की प्रवत्ति बढ़ती जा रही है। इसके अतिरिक्त उत्पादक आधुनिक तकनीक का प्रयोग करने के लिए बहुत बड़े स्तर पर उत्पादन करने लगे हैं। इसके फलस्वरूप छोटे उत्पादक उनसे प्रतियोगिता नहीं कर पा रहे हैं। अतएव अधिक संख्या में छोटे–छोटे उत्पादकों द्वारा उत्पादन किए जाने के स्थान पर थोड़ी संख्या में बड़े उत्पादकों द्वारा अधिकतर उत्पादन किया जा रहा है। इसके कारण भी प्रतियोगिता समाप्त होती जा रही है।

(2) अपव्ययपूर्ण तथा अकुशल उत्पादन (Wasteful and Inefficient Production) : कीमत संयंत्र का उद्देश्य उत्पादकों को अधिकतम लाभ प्राप्त कराना है। इसकी पूर्ति के लिए वे विज्ञापन पर बहुत अधिक धन व्यय करते हैं। वे उपभोक्ताओं को उन वस्तुओं को खरीदने के लिए प्रेरित करते हैं जिन्हें वे अधिक मात्रा में बेचना चाहते हैं। इस प्रकार उपभोक्ता की **प्रभुता** (Sovereignty) समाप्त होने लगी है, उत्पादन में अपव्यय तथा अकुशलता बढ़ गई है क्योंकि पूर्ण प्रतियोगिता का स्थान एकाधिकार तथा एकाधिकारी प्रतियोगिता ने लेना शुरू कर दिया है।

(3) बाह्य प्रभावों की अपेक्षा (Ignores Externalities) : बाह्य प्रभावों से अभिप्राय उन लाभों तथा लागतों से है जो बाज़ार के बाह्य होते हैं और जिनकी प्राप्ति तत्काल संबंधित क्रेताओं और विक्रेताओं की न होकर अन्य लोगों की होती है। बाह्य प्रभावों को **स्पिल ओवर** (Spill Over) भी कहा जाता है। कीमत संयंत्र की स्थिति में उत्पादक उत्पादन करते समय लागत तथा आय को ध्यान में रखते हैं। किन्तु कुछ सामाजिक उपयोगिता की वस्तुएं ऐसी होती हैं जिनकी लागत अधिक होती है तथा आय की सम्भावना कम होती है जैसे–वातावरण में सुधार, पार्क आदि की व्यवस्था। कीमत संयंत्र इन बाह्य प्रभावों की उपेक्षा करता है।

(4) सामाजिक वस्तुओं की उपेक्षा (Ignores Social Goods) : कीमत संयंत्र मुख्य रूप से व्यक्तिगत आवश्यकताओं को ध्यान में रखता है किन्तु शिक्षा, चिकित्सा आदि सामाजिक पदार्थों की उचित मात्रा में पूर्ति नहीं करता। यदि कोई भी समाज, शिक्षा, चिकित्सा, परिवहन, संचार, पानी तथा बिजली का उत्पादन कीमत संयंत्र द्वारा निर्धारित होने दे तो इन वस्तुओं का देश में अभाव हो जायेगा।

(5) साधनों की अगतिशीलता (Immobility of Resources) : कीमत संयंत्र की मुख्य विशेषता उसका **स्वचालक** (Automatic) होना है। परन्तु वास्तविक जीवन में अर्थव्यवस्था में कई कारणों से साधनों की अगतिशीलता पाई जाती है। इसके फलस्वरूप अर्थव्यवस्था परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको परिवर्तित नहीं कर पाती।

(6) आय का असमान वितरण (Unequal Distribution of Income) : कीमत संयंत्र के फलस्वरूप आय का असमान वितरण होता है। इसका कारण यह है कि श्रम की तुलना में उद्यमी, भूमिपति तथा पूंजपति को उनके साधनों की कीमत अधिक मिलती है। इसके फलस्वरूप श्रमिक और उद्यमी की आय में काफी अन्तर उत्पन्न हो जाता है। यह आय की असमानता का कारण बनता है।

(7) बेरोजगारी (Unemployment) : कीमत संयंत्र के फलस्वरूप अर्थव्यवस्था में मन्दी तथा बेरोजगारी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसका कारण यह है कि आय की असमानता तथा प्रतियोगिता की समाप्ति के कारण धनी व्यक्तियों को राष्ट्रीय आय का अधिक भाग प्राप्त होता है परन्तु उनकी **उपभोग प्रवत्ति** (Propensity to Consume) कम होती है। इसका अभिप्राय यह है कि वे अपनी आय में होने वाली वद्धि के कम भाग का व्यय करते हैं तथा अधिक भाग की बचत करते हैं। इस प्रकार कुल मांग कुल पूर्ति की तुलना में कम हो जाती है। कुल मांग के कम होने के कारण अर्थव्यवस्था में मन्दी और बेरोजगारी फैलती है।

संक्षेप में, कीमत संयंत्र की उपरोक्त सीमाओं तथा दोषों के कारण प्रत्येक अर्थव्यवस्था में सरकार किसी ने किसी सीमा तक अवश्य हस्तक्षेप करने लगी है **इसलिए संसार की अधिकतर मुक्त अर्थव्यवस्थाओं में शुद्ध पूंजीवाद नहीं पाया जाता बल्कि नियमित पूंजीवाद पाया जाता है।**

Unit-2

मांग की मूल्य सापेक्षता

(Elasticity of Demand)

अर्थशास्त्र में मांग की सापेक्षता का सबसे पहले उल्लेख प्रो. जे.एम. मिल तथा कूरनो ने किया था। इस धारणा का विकास डॉ. मार्शल ने अपनी पुस्तक "अर्थशास्त्र के सिद्धांत" में किया था। सापेक्षता एक तत्व में होने वाले परिवर्तन के कारण दूसरे तत्व में होने वाले परिवर्तन की सीमा का माप है अतः मांग की सापेक्षता से यह ज्ञात होता है कि किसी वस्तु की आय अथवा सम्बन्धित वस्तुओं की कीमत में परिवर्तन होने से उस वस्तु की मांग की मात्रा में कितना परिवर्तन हुआ है।

मांग की सापेक्षता मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती है

(i) मांग की मूल्य सापेक्षता

(ii) मांग की आय सापेक्षता

(iii) मांग की आड़ी लोच

मांग की मूल्य सापेक्षता
Price Elasticity of Demand

मांग की कीमत लोच कीमत में होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप मांग में होने वाले परिवर्तनों की प्रक्रिया को मापती है अर्थात् मांग की कीमत लोच कीमत में होने वाले प्रतिशत परिवर्तन तथा इसके फलस्वरूप वस्तु की मांग में होने वाले प्रतिशत परिवर्तन का अनुपात है।

प्रो. बोल्डिंग के अनुसार, "मांग की मूल्य सापेक्षता कीमत में होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप मांग में होने वाली परिवर्तन की प्रक्रिया को मापती है।" यदि कीमत में होने वाली परिवर्तन बहुत कम है तो उसे मापने के लिए २ बिन्दु विधि का प्रयोग किया जाता है और यदि यदि कीमत में होने वाले परिवर्तन बहुत कम नहीं है तो इसे मापने हेतु चाप विधि का प्रयोग किया जाता है।

बिन्दु विधि के अनुसार मांग की कीमत लोच को निम्न रूप में दर्शाया जा सकता है—

$$ep = \frac{\text{मांग में बहुत थोड़ा आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत में बहुत थोड़ा आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$ep = \frac{\frac{dQ}{dp}}{p}$$

$$= \frac{dQ}{Q} \cdot \frac{p}{dp}$$

जहाँ

$$= \frac{dQ}{dp} \cdot \frac{p}{Q}$$

dQ= मांग से बहुत कम परिवर्तन

dp = कीमत से बहत कमी परिवर्तन

p = आरम्भिक कीमत

Q= आरम्भिक मांग

(यदि मांग वक्र रेखीय है तो)

$$Q = bo\text{-}b_1p$$

इसका ढाल (slope) $= \frac{dQ}{dp} = -b_1$

अतः $$ep = -b_1 \frac{p}{Q}$$

जो यह स्पष्ट करता है कि रेखीय मांग वक्र के भिन्न–भिन्न बिन्दुओं पर मांग की लोच बदलती जाती है। रेखीय मांग वक्र के किसी बिन्दु पर मांग की लोच बिन्दु से दाईं ओर के भाग तथा बिन्दु से बाईं ओर के भाग का अनुपात होती है। इसे निम्न रेखाचित्र में दर्शाया जा सकता है।

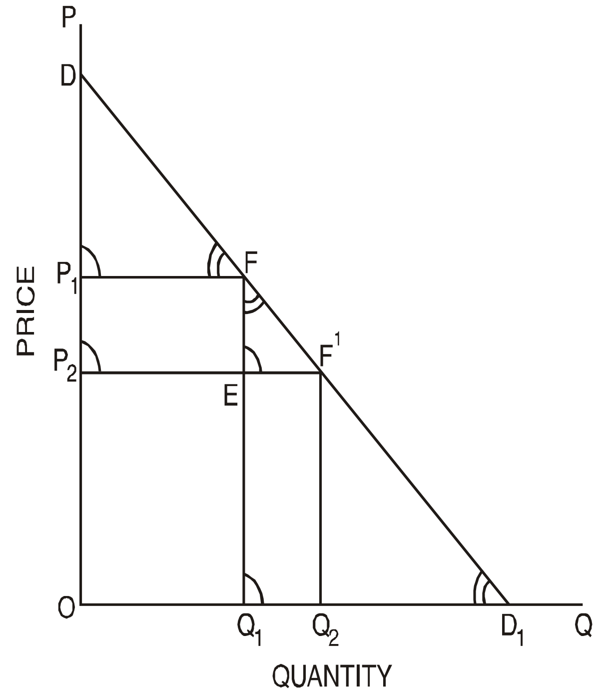

चित्र 2.1

F बिन्दु पर मांग की लोच= $\frac{FD^1}{FD}$

रेखाचित्र में $\Delta P = P_1P_2 = EF$

$$\Delta Q = Q_1Q_2 = EF^1$$

$$P = OP_1$$

$$Q = OQ_1$$

यदि P तथा Q में बहुत कम परिवर्तन होता है तो

$$\Delta P = dP$$

$$\Delta Q = dQ$$

$\therefore$

$$ep = \frac{dQ}{dP} \cdot \frac{P}{Q}$$

$$\frac{Q_1Q_2}{P_1P_2} \cdot \frac{QP_1}{OQ_1}$$

$$\frac{EF^1}{EF} \cdot \frac{OP_1}{OQ_1}$$

रेखाचित्र में ΔFEF^1 तथा ΔFQD^1 दोनों समान हैं। क्योंकि उनके सगंत कोण आपस में समान हैं।

अतः $$\frac{EF^1}{EF} = \frac{Q_1D^1}{FQ_1} = \frac{Q_1D^1}{OP_1}$$

$\therefore$ $$ep = \frac{QD^1}{OP^1} \cdot \frac{OP_1}{OQ_1}$$

$$= \frac{Q_1D^1}{OQ_1}$$

पुनः रेखाचित्र में ΔDP_1F तथा ΔFQ_1D^1 दोनों समान हैं।

$\therefore$ $$\therefore \frac{Q_1D^1}{FD^1} = \frac{P_1F}{FD} = \frac{OQ_1}{FD}$$

Rearranging के बाद

$$\frac{Q_1D^1}{OQ_1} = \frac{FD_1}{FD}$$

अतः बिन्दु F पर

$$ep = \frac{Q_1D^1}{OQ_1} = \frac{FD^1}{FD}$$

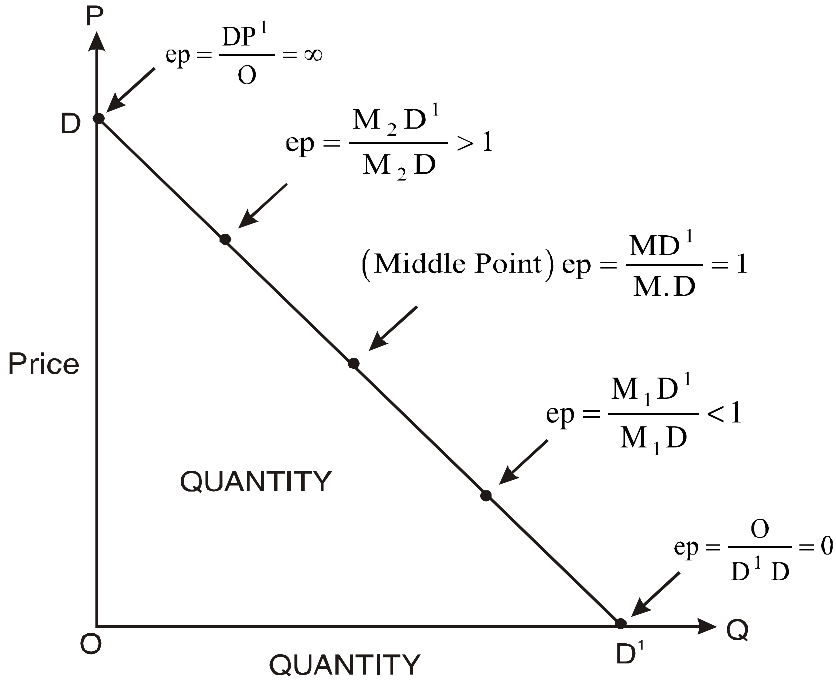

चित्र 2.2

मांग की लोच सदा ऋणात्मक (Negative) होती है क्योंकि मांग के नियम के अनुसार P तथा Q से विपरीत सम्बन्ध होता है परन्तु व्यवहार में हम ऋणात्मक चिन्ह का प्रयोग नहीं करते हैं।

(यदि मांग वक्र रेखीय नहीं है)

इस वक्र किसी बिन्दु पर मांग की लोच का माप करने के लिए एक स्पर्श रेखा (Tagent line) खींची जाती है। जो रेखाचित्र के दोनों अक्षो को छूती है। इसके बाद बिन्दु के दाईं ओर के भाग तथा बिन्दु के बाईं ओर के भाग का अनुपात निकाल लिया जाता है।

चित्र 2.3

F बिन्दु पर मांग की कीमत लोच $= \frac{FB}{FA}$

मांग की लोच की Range होती है।

$$0 \leq ep \leq \infty$$

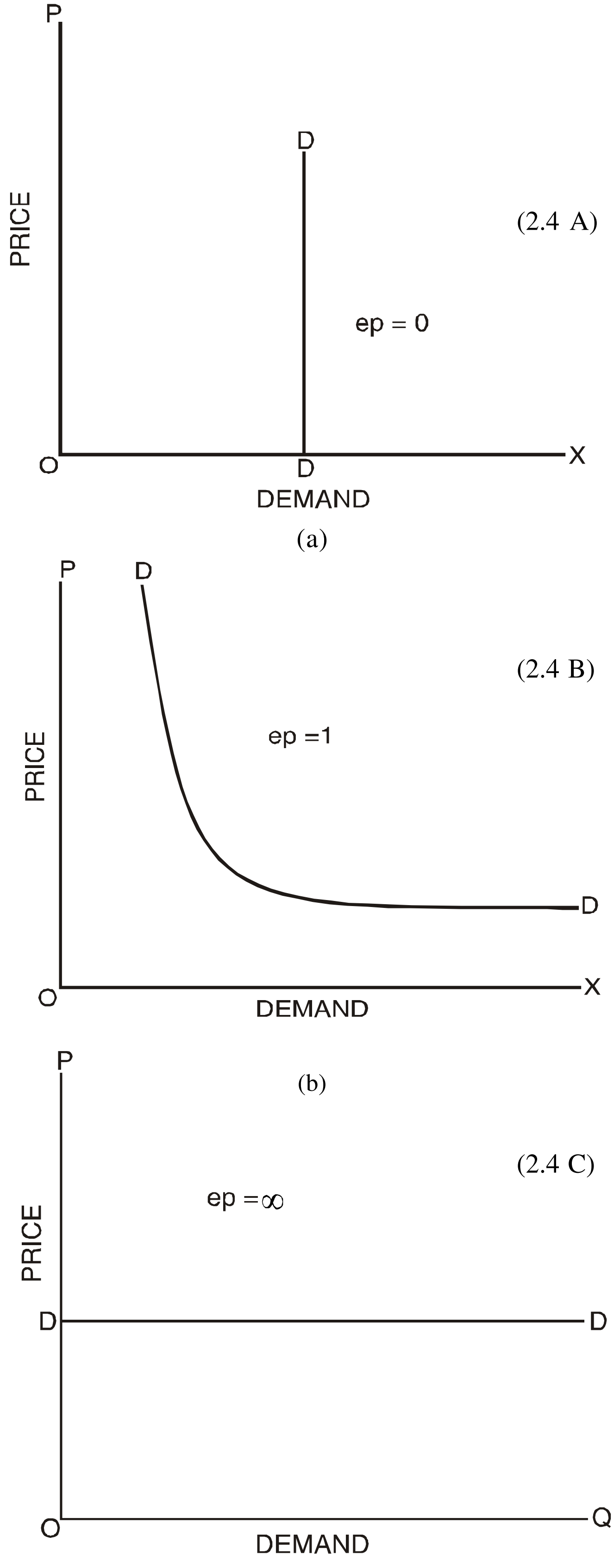
P
D
PRICE
(2.4 A)
ep = 0
O
D
X
DEMAND
(a)
P
D
(2.4 B)
ep =1
PRICE
D
O
X
DEMAND
P
(b)
(2.4 C)
ep =∞
PRICE
D
D
O
Q
DEMAND
(c)

चित्र 2.4

Arc Elasticity of Demand
मांग की चाप लोच

यदि कीमत में काफी अधिक परिवर्तन हो जाये तो मांग की लोच को चाप विधि से मापा जाता है।

$$ep = \frac{\Delta Q}{\Delta P} = \frac{\frac{P_1 + P_2}{2}}{\frac{Q_1 + Q_2}{2}}$$

$$= \frac{\Delta Q}{\Delta P} = \frac{P_1 + P_2}{Q_1 + Q_2}$$

चाप विधि से औसत लोच का माप किया जा सकता है अर्थात् दो बिन्दुओं के बीच चाप के मध्य बिन्दु पर लोच का माप किया जाता है।

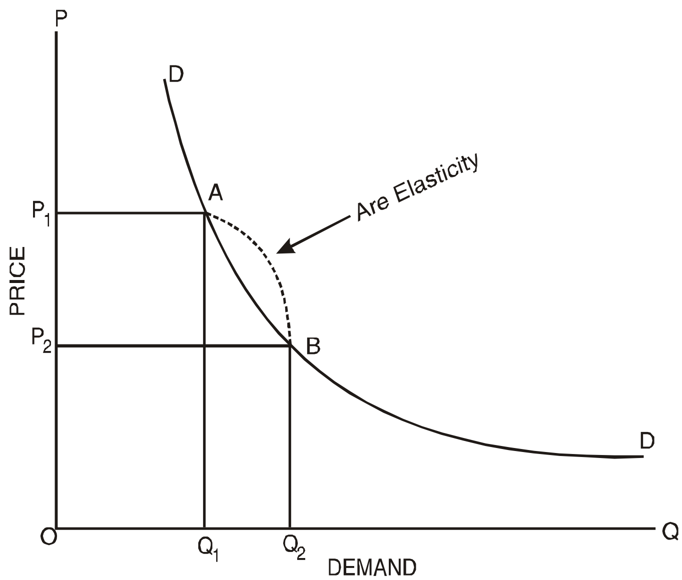

चित्र 2.5

रेखाचित्र में मांग वक्र DD के AB भाग पर चाप लोच का माप किया जाता है।

कुल व्यय विधि
(Total Expenditure Method)

इस विधि में वस्तु की कीमत में होने वाले परिवर्तन के कारण वस्तु पर किए गए कुल व्यय में जो अन्तर आता है, उसके आधार पर मांग की लोच का माप किया जाता है।

(a) ep >1:-

यदि कीमत के घटने से वस्तु पर किया गया कुल व्यय बढ़ जाता है और कीमत के बढ़ने से वस्तु पर किया गया कुल व्यय घट जाता है तो मांग की लोच इकाई से अधिक होगी।

$$\left.\begin{array}{l} P\downarrow \rightarrow TE\uparrow \\ P\uparrow \rightarrow TE\downarrow \end{array}\right] \therefore ep > one$$

जहाँ

P = कीमत

TE = कुल व्यय

कीमत	मांग	कुल व्यय
10	1	10
9	2	18
8	3	24
7	4	28

$P\downarrow \; TE\uparrow$

1

(b) ep = 1:-

जब वस्तु की कीमत के घटने या बढ़ने से कुल व्यय में कोई परितर्वन नहीं होता है तो मांग की लोच इकाई के बराबर होगी।

कीमत	मांग	कुल व्यय
6	5	30
5	6	30

$P\downarrow \rightarrow \overline{TE}$

$\therefore ep = 1$

(c) ep<1:-

जब वस्तु की कीमत के घटने से वस्तु पर किया गया कुल खर्च भी घट जाता है और वस्तु की कीमत के बढ़ने से वस्तु पर किया गया कुल व्यय भी बढ़ जाता है तो मांग की लोच इकाई से कम होती है।

$\left.\begin{array}{l} P\uparrow \rightarrow TE\uparrow \\ P\downarrow \rightarrow TE\downarrow \end{array}\right] ep < I$

कीमत	मांग	कुल व्यय
4	7	28
3	8	24
2	9	18
1	10	10

$P\downarrow \rightarrow TE\downarrow$

$\therefore ep < I$

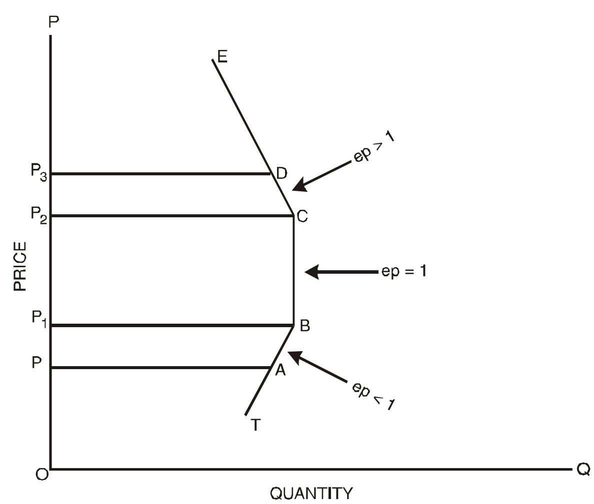

चित्र 2.6

रेखाचित्र में TE वक्र कुल व्यय वक्र है। इसके A से B बिन्दु तक ep<I है, B से C बिन्दु तक ep=I है तथा C से D बिन्दु तक ep>1 है। प्रो. लिभाफास्की (Leibhafasky) ने कुल व्यय विधि द्वारा मांग की कीमत लोच मापने के निम्नलिखित सूत्र का प्रयोग किया है।

$$E = 1 - \frac{\Delta Ex}{x\Delta P}$$

यहाँ = E = मांग की कीमत लोच

ΔEx = व्यय में परिवर्तन

x = वस्तु की आरम्भिक मांग

ΔP = कीमत में परिवर्तन

मान लीजिए P = 10 रुपये, x = 60 हजार, Ex = 10 × 60,000 = 6 लाख

P = 20 रुपये, x_1 = 50 हजार, Ex_1 = 20 × 50,000 = 10 लाख

ΔP = 20 – 10 रुपये, ΔEx = 10 लाख – 6 लाख = 4 लाख

$$= 1 - \frac{\Delta Ex}{x\Delta P} = 1 - \frac{400000}{60000 \times 10} = \frac{2}{3} \text{ (Less than unitary)}$$

आनुपातिक विधि
(Proportionate Method)

इस विधि के अनुसार मांग की कीमत लोच का अनुमान लगाने के लिए मांग में होने वाले आनुपातिक परिवर्तन को कीमत में होने वाले अनुपातिक परिवर्तन से भाग कर दिया जाता है।

$$ep = \frac{\text{x वस्तु की मात्रा में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{x वस्तु की कीमत में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$ep = \frac{\dfrac{\text{मांगी गई मात्रा में परिवर्तन}}{\text{प्रारम्भिक मांग की मात्रा}}}{\dfrac{\text{कीमत में परिवर्तन}}{\text{प्रारम्भिक कीमत}}}$$

$$= \frac{\dfrac{Q_1 - Q}{Q}}{\dfrac{P_1 - P}{P}} = \frac{\dfrac{\Delta Q}{Q}}{\dfrac{\Delta P}{P}}$$

$$ep = \frac{\Delta Q}{Q} \div \frac{\Delta P}{P} = \frac{\Delta Q}{Q} \times \frac{P}{\Delta P}$$

$$ep = \frac{P}{Q} \times \frac{\Delta Q}{\Delta P}$$

यहाँ

Q = वस्तु की मांगी गई प्रारम्भिक मात्रा

Q_1 = परिवर्तित मात्रा

P = वस्तु की प्रारम्भिक कीमत

P_1 = परिवर्तित कीमत

मांग की किमत लोच को प्रभावित करने वाले तत्व

1. **वस्तु की प्रकृति :** प्रायः अनिवार्य वस्तुओं जैसे अनाज, नमक, साबुन, इत्यादि की मांग कम लोचदार होती है। इसके विपरीत विलासिताओं की वस्तु जैसे, कार, कलर टेलीविजन, फ्रीज आदि की मांग अधिक लोचदार होती है।
2. **स्थानापन्न वस्तु की उपलब्धता :** एक वस्तु की मांग उस समय अधिक लोचदार होगी यदि उसके स्थानापन्न बाजार में उपलब्ध हैं। इसके विपरीत यदि किसी वस्तु के स्थानापन्न बाजार में उपलब्ध नहीं हैं तो उसकी मांग कम लोचदार होगी।
3. **समय तत्व** : प्रायः दीर्घकाल में मांग अधिक लोचदार तथा अल्पकाल में कम लोचदार होती है क्योंकि दीर्घकाल में वस्तु की मांग को कीमत के अनुसार परिवर्तित करने का काफी समय होता है जबकि अल्पकाल में कम समय के कारण वस्तु की मांग को कीमत के अनुसार परिवर्तित नहीं किया जा सकता।
4. **वस्तु के कई उपयोग :** यदि किसी वस्तु को कई प्रकार के कार्यों में प्रयोग किया जाता है। जैसे दूध को आईसक्रीम, पनीर, घी, मिठाई इत्यादि बनाने के लिए प्रयोग किया जाता है तो इसकी मांग अधिक लोचदार होगी क्योंकि इसकी कीमत बढ़ने पर लोग इसका प्रयोग महत्वपूर्ण कार्यों के लिए करने लग जायेंगे।
5. **वस्तु पर खर्च की जाने वाली आय का अनुमान :** यदि किसी वस्तु पर आय का कम भाग खर्च किया जाता है। जैसे माचिस, ब्लैड, साबुन इत्यादि तो इसकी मांग कम लोचदार होती है। इसके विपरीत जिन वस्तुओं पर उपभोक्ता अपनी आय का अधिक भाग व्यय करता है। जैसे कपड़े आदि तो उनकी मांग अधिक लोचदार होगी।
6. **उपभोग का स्थगित होना :** यदि किसी वस्तु के उपभोग को कुछ समय के लिए स्थगित किया जा सकता है तो उसकी मांग अधिक लोचदार होती है। जैसे, गरम कपड़े, जूते, महंगे कपड़े, रंगीन टेलीविजन की मांग अधिक लोचदार होगी, क्योंकि इन मांगों को कुछ समय के लिए स्थगित किया जा सकता है।
7. **आदतें :** मांग की लोच उपभोक्ता की आदतों पर भी निर्भर करती है। जिस वस्तु के उपभोग की उपभोक्ता को आदत पड़ जाती है। जैसे शराब, सिगरेट आदि तो इन वस्तुओं की मांग कम लोचदार होती है क्योंकि इनकी कीमत अधिक होने का इनकी मांग पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।
8. **धन का वितरण :** यदि किसी देश में आय का वितरण समान होता है तो मांग की कीमत लोच अधिक लोचदार होगी और यदि आय का वितरण असमान है तो मांग की कीमत लोच बेलोचदार होगी।

मांग की आय लोच
(Income Elasticity of Demand)

अन्य बातें समान रहते हुए उपभोक्ता की आय में परिवर्तन होने से वस्तु की मांगी जाने वाली मात्रा में जिस अनुपात में परिवर्तन आता है उसे वस्तु की मांग की आय लोच कहते हैं अर्थात् मांग की आय लोच से अभिप्राय आय से होने वाले प्रतिशत परिवर्तन के फलस्वरूप मांगी गई मात्रा में होने वाले प्रतिशत परिवर्तन के अनुपात से है।

$$ey = \frac{\text{वस्तु की मांग में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{उपभोक्ता की आय में आनुपातिक पिरिवर्तन}}$$

$$\frac{\frac{\Delta Q}{Q}}{\frac{\Delta Y}{Y}} = \frac{\Delta Q}{Q} \cdot \frac{\Delta Y}{Y}$$

$$= \frac{\Delta Q}{\Delta Y} \cdot \frac{Y}{Q}$$

ΔQ = वस्तु की मांग में परिवर्तन

ΔY = उपभोक्ता की आय में परिवर्तन

Y = आरम्भिक आय

Q = आरम्भिक मांग

मांग की आय लोच के प्रकार
(Types of Income Elasticity of Demand)

(1) घनात्मक मांग की आय लोच : जब आय के बढ़ने से वस्तु की मांग भी बढ़ती है और आय के कम होने से वस्तु की मांग भी कम होती है तो मांग की आय लोच घनात्मक होती है। प्रायः सामान्य वस्तुओं की आय लोच घनात्मक होती है।

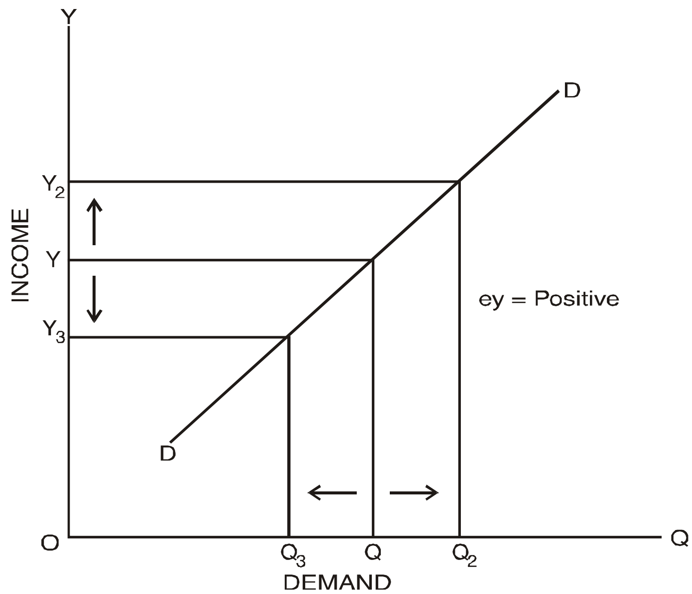

चित्र 2.7

(2) ऋणात्मक मांग की आय लोच : जब उपभोक्ता की आय के बढ़ने पर वस्तु की मांग घटती है तथा आय के घटने पर वस्तु की मांग बढ़ती है तो मांग की आय लोच ऋणात्मक होती है। प्रायः गिफ्फन वस्तुओं या घटिया वस्तुओं की मांग की आय लोच ऋणात्मक होती है।

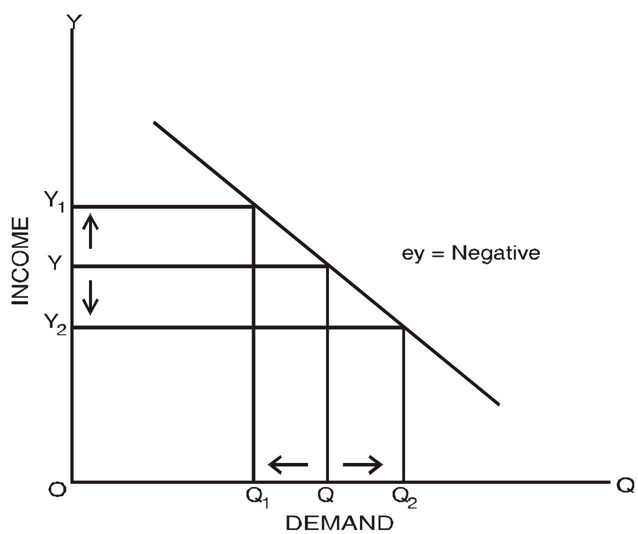

चित्र 2.8

(3) मांग की शुन्य आय लोच : जब उपभोक्ता की आय के बढ़ने या घटने का वस्तु की मांग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है तो उन वस्तुओं की आय लोच शुन्य होती है। प्रायः अनिवार्य वस्तुओं जैसे नमक, साबुन आदि वस्तुओं की आय लोच शुन्य होती है।

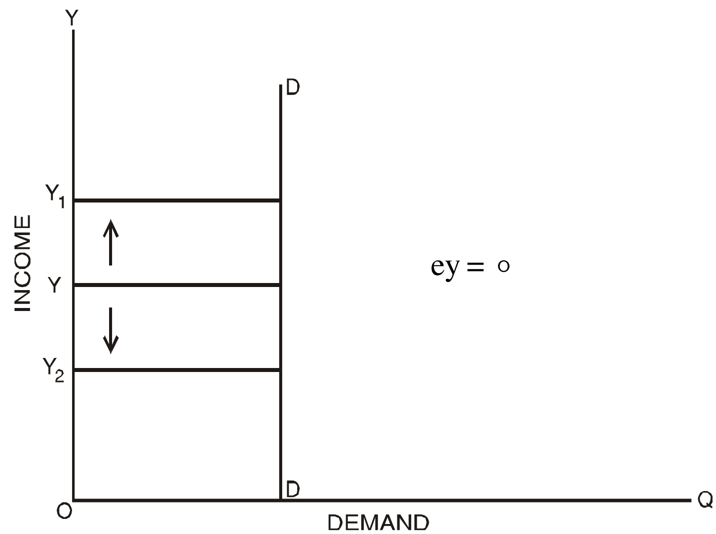

चित्र 2.9

(1) ey = 1: जब मांग में होने वाला आनुपातिक परिवर्तन आय में होने वाले आनुपातिक परिवर्तन के समान होता है तो मांग की आय लोच 1 के बराबर होगी।

(2) ey > 1: जब मांग में होने वाला आनुपातिक परिवर्तन आय में होने वाले आनुपातिक परिवर्तन से अधिक होता है।

(3) ey < 1: जब मांग में होने वाला आनुपातिक परिवर्तन आय में होने वाले आनुपातिक परिवर्तन से कम होता है।

वस्तुओं की प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मांग की आय लोच का महत्व है । जिन वस्तुओं की आय लोच ऋणात्मक होती है। उन्हें गिफ्फन पदार्थ कहते हैं और जिन वस्तुओं की आय लोच घनात्मक होती है। उन्हें सामान्य पदार्थ कहते हैं। जिन वस्तुओं की मांग आय लोचदार होती है। वे विलासिताओं की वस्तुएं कहलाती हैं और जिन वस्तुओं की मांग आय बेलोचदार होती है उन्हें आवश्यक वस्तुएं कहते हैं।

मांग की तिरछी लोच
(Cross Elasticity of Demand)

अन्य बातें समान रहने पर जब एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने के फलस्वरूप दूसरी वस्तु की मांगी जाने वाली मात्रा में जिस अनुपात में परिवर्तन आता है, उसे मांग की तिरछी या आड़ी लोच कहते हैं।

$$e_c \frac{\text{'y' वस्तु की मांग में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{'x' वस्तु की कीमत में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$e_c = \frac{\frac{\Delta Qy}{Qy}}{\frac{\Delta Px}{Px}} = \frac{\Delta Qy}{Qy} \cdot \frac{Px}{\Delta Px}$$

$$= \frac{\Delta Qy}{\Delta Px} \cdot \frac{Px}{Qy}$$

यहां

ΔQy = 'y' वस्तु की मांग में परिवर्तन

ΔPx = 'x' वस्तु की कीमत में परिवर्तन

Px = 'x' वस्तु की आरम्भिक कीमत

Qy = 'y' वस्तु की आरम्भिक मांग

मांग की तिरछी लोच
(Types of Cross Elasticity of Demand)

1. मांग की घनात्मकम आड़ी लोच : जब एक वस्तु की कीमत बढ़ने से दूसरी वस्तु की मांग भी बढ़ जाती है तथा कीमत घटने से सम्बन्धित वस्तु की मांग घट जाती है तो मांग की आड़ी लोच घनात्मक होती है। यह प्रायः स्थानापन्न वस्तुओं जैसे कॉफी और चाय, पेप्सी कोला तथा कोका कोला आदि के लिए पाई जाती है।

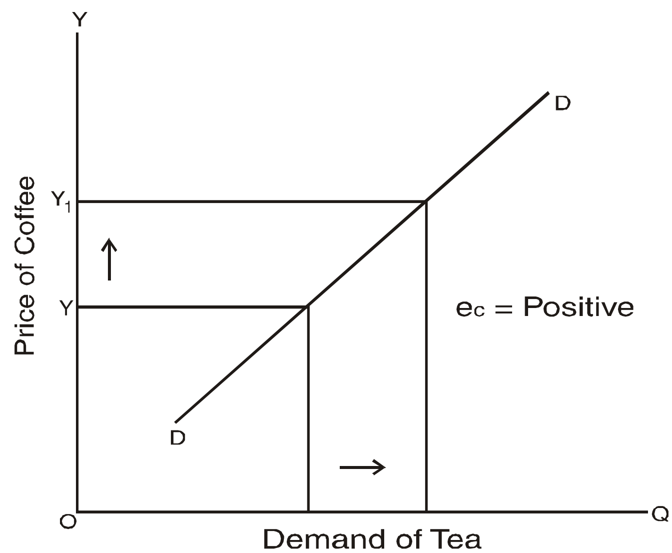

चित्र 2.10

(2) मांग की ऋणात्मक आड़ी लोच : जब किसी वस्तु की कीमत बढ़ने से दूसरी वस्तु की (सम्बन्धित वस्तु) की मांग कम हो जाती है तथा एक वस्तु की कीमत होने से दूसरी वस्तु की मांग बढ़ जाती है तो इसे मांग की ऋणात्मक आड़ी लोच कहते हैं। प्रायः पूरक वस्तुओं जैसे कार तथा पैट्रोल इत्यादि की मांग ऋणात्मक आड़ी लोच होती है।

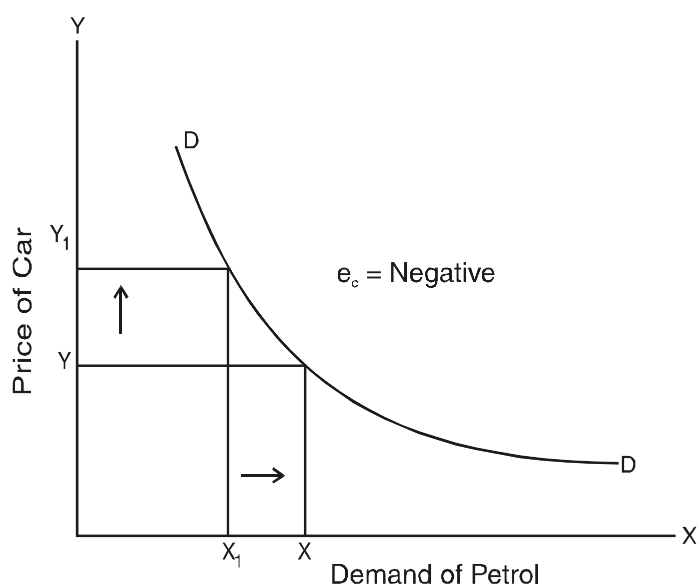

चित्र 2.11

(3) मांग की शून्य आड़ी लोचः— जब किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन का दूसरी वस्तु की मांग पर कोई प्रभाव नहीं होता है तो मांग की आड़ी लोच शुन्य होगी। यह प्रायः स्वतंत्र वस्तुओं में पाई जाती है।

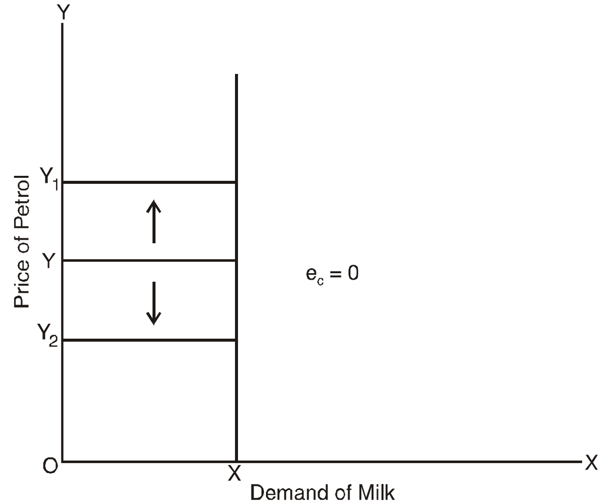

चित्र 2.12

मांग की आड़ी लोच द्वारा विभिन्न वस्तुओं के आपसी सम्बन्धों को दर्शाया जा सकता है। यदि मांग की आड़ी लोच घनात्मक है तो दोनों वस्तुएँ प्रतिस्थापन्न वस्तुएँ होंगी। इसके विपरीत यदि मांग की आड़ी लोच ऋणात्मक है तो दोनों वस्तुएँ पूरक होगी।

आगम की धारणा
(Concepts of Revenue)

आगम की तीन मुख्य धारणाएँ हैंः—

1. कुल आगम (Total Revenue)
2. औसत आगम (Average Revenue)
3. सीमान्त आगम (Marginal Revenue)

कुल आगम
(Total Revenue)

एक फर्म द्वारा अपने उत्पादन की निश्चित मात्रा को बेचकर जो आय प्राप्त होती है उसे कुल आय कहा जाता है।

डूली के अनुसार "कुल आय एक फर्म द्वारा प्राप्त सब बिक्री, राशि प्राप्तियों तथा आय का जोड़ है।"

कुल आय का अनुमान लगाने के लिए या तो औसत आय (AR) को वस्तु की मात्रा से गुणा कर दिया जाता है या सीमान्त आय (MR) को जोड़ लिया जाता है। अर्थात

$$TR = AR \times Q$$
or
$$TR = \Sigma MR$$

यहाँ Σ = Summation जोड़ का चिन्ह

MR = सीमान्त आय

Q = वस्तु की मात्रा

सीमान्त आगम

(Marginal Revenue)

सीमान्त आगम का अनुमान लगाने के लिए या तो कुछ आय में होने वाले परिवर्तन (ΔTR) को वस्तु की मात्रा में होने वाले परिवर्तन (AQ) से भाग दे दिया जाता है।

फर्गुसन के अनुसार "एक फर्म द्वारा अपने उत्थान की एक इकाई कम या अधिक बेचने से कुल आय में जो अन्तर आता है उसे सीमान्त आय कहा जाता है।

$$MR = \frac{\text{Change in Total Revenue}}{\text{Change in Quantity Sold}}$$

$$\frac{\Delta TR}{\Delta Q}$$

औसत आगम

(Average Revenue)

साधारण भाषा से हम जिसे प्रति इकाई कीमत कहते हैं वह ही औसत आय है। मैकोनल के अनुसार "किसी वस्तु की बिक्री से प्राप्त होने वाली प्रति इकाई आय, औसत आय कहलाती है।"

औसत आय या आय का अनुमान कुल आय को कुल मात्रा से भाग देकर लगाया जाता है।

$$AR = \frac{TR}{Q} = \frac{PXQ}{Q} = P$$

(Mutual Deterwmination of Average Revenue, Marginal Revenue and Elasticity of Demand)

यदि किसी फर्म को अपने उत्पादन की औसत आय, सीमान्त आय तथा मूल्य सापेक्षता (लोच) में से किन्हीं दो तत्वों का ज्ञान है तो तीसरे तत्व के बारे में जानकारी निम्नलिखित सूत्र की सहायता से ज्ञात की जा सकती है या तीसरे तत्व का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

$$e = \frac{AR}{AR - MR}$$

यहाँ

e = मांग की लोच

AR = औसत आय

MR = सीमान्त आय

इसे निम्नलिखित रेखाचित्र की सहायता से भी समझा जा सकता है।

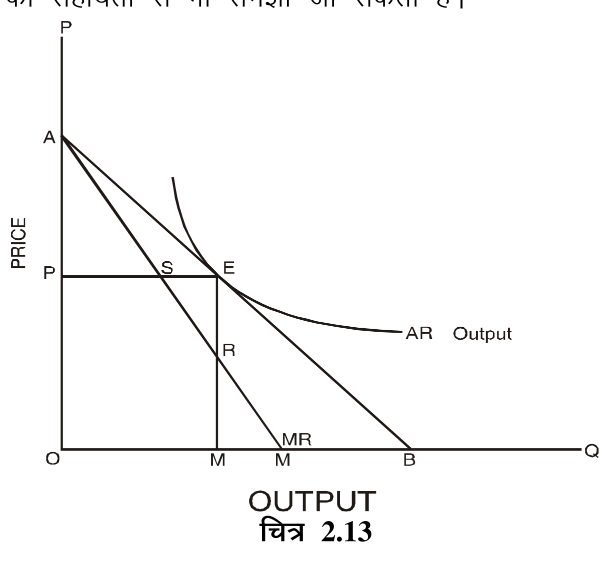

चित्र 2.13

रेखाचित्र के E बिन्दू पर मांग की कुल मूल्य सापेक्षता

$$e = \frac{\text{Lower Portion}}{\text{Upper Portion}} = \frac{EB}{EA}$$

As EMB तथा EPA समान कोण वाली हैं। इसलिए इनकी रेखाओं का अनुपात बराबर होगा।

$$\frac{EB}{EA} = \frac{EM}{AP}$$

E बिन्दु पर OA पर EP लम्ब डालिए। A बिन्दू से AN रेखा खीचिए जो EP से S बिन्दू पर काटती है तथा OQ को N बिन्दु पर काटती है। वास्तव में यह रेखा MR वक्र होगा।

Δs ESR तथा ASP में

ES = PS रचना (Construction)

ESR = ASP (Vertically opposite Δs)

ASP = SER (Right)

ΔESR तथा ΔASP (Congurrent) है।

ER = AP

$$e = \frac{EM}{EA} = \frac{EM}{AP} = \frac{EM}{ER}$$

[क्योंकि AP = ER]

or

$$= e = \frac{EM}{ER} = \frac{EM}{EM - RM}$$

[क्योंकि ER = EM = RM]

अतएव सिद्ध हो जाता है कि

$$e = \frac{AR}{AR - MR}$$

यह हमें इस सूत्र के तीन तत्वों में से दो मालूम है तो हम तीसरा तत्व ज्ञात कर सकते हैं।

$$e = \frac{AR}{AR - MR} \quad \text{or} \quad eAR - eMR = AR$$

or

$$eMR = eAR - AR$$

$$e = \frac{AR}{AR - MR}$$

$$\boxed{MR = \frac{eAR - AR}{e} \text{ or } MR = \frac{AR(e-1)}{e}}$$

$$e = \frac{AR}{AR - MR} = eAR - eMR = AR$$

or

$$eAR - AR = eMR$$

or

$$(e-1)$$

or

$$AR = \frac{eMR}{e-1}$$

अतः

$$e = \frac{AR}{AR - MR};\ AR = \frac{eMR}{e-1},\ MR = \frac{AR(e-1)}{e}$$

मांग की लोच का महत्व
(Importance of Elasticity of Demand)

मांग की लोच के महत्व सम्बन्धी मुख्य बातें निम्न प्रकार हैः–

1. **कीमतों के निर्धारण में सहायक :** किसी भी वस्तु की कीमत उसकी मांग तथा पूर्ति पर निर्भर करती है परन्तु मांग पर लोच का प्रभाव पड़ता है और पूर्ति भी पूर्ति की लोच द्वारा निश्चित होती है। इसलिए किसी भी वस्तु की कीमत मांग तथा पूर्ति की लोच पर निर्भर करती है।

2. **एकाधिकारी को लाभ :** एकाधिकारी को अपनी वस्तु की कीमत निर्धारित करने में मांग की लोच से बहुत लाभ पहुंचता है। एकाधिकार में एक ही विक्रेता होता है। उसे वह कीमत निश्चित करनी पड़ती है जिससे उसका लाभ अधिकतम हो जाए। उसके द्वारा वस्तु की जो कीमत रखी जाती है, वह मांग की लोच पर निर्भर करती है। यदि उस वस्तु की मांग, जिसका एकाधिकारी उत्पादन करता है, बेलोच है, तो कीमत ऊंची रखी जा सकती है।

3. **कीमत विभेद :** एकाधिकारी द्वारा अपनाई गई कीमत–विभेद की नीति भी मांग की लोच पर आधारित होती है। जब एक वस्तु का एक ही उत्पादक होता है तो यह मांग की लोच के आधार पर विभिन्न बाजारों में एक ही वस्तु की भिन्न–भिन्न कीमतें वसूल कर सकता है। जहां मांग बेलोच होती है वहाँ अधिक कीमत तथा जहाँ मांग अधिक लोचदार होती है वहाँ कम कीमत वसूल की जाती है।

4. **व्यापार की शर्तें :** अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दो देशों के व्यापार की शर्तें आयात तथा निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की मांग लोच के आधार पर ही निश्चित की जाती है। जिस देश की वस्तुओं की मांग दूसरे देश में बेलोच होती है, व्यापार की शर्तें उस देश के पक्ष में तथा दूसरे देश के विपक्ष में निश्चित होती है।

5. **संयुक्त पूर्ति :** कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जिनका उत्पादन साथ–साथ होता है–जैसे कपास तथा बिनौले, मांस तथा ऊन आदि। ऐसे पदार्थों की उत्पादन लागत तो संयुक्त होती है किन्तु उनकी कीमतें संयुक्त नहीं हो सकती। अतः उनकी कीमतें निश्चित करने में मांग की लोच सहायक सिद्ध होती है। जिस पदार्थ की मांग बेलोच होती है उसकी कीमत अधिक तथा जिसकी मांग लोचदार होती है उसकी कीमत कम निश्चित होती है।

6. **सरकार के लिए लाभप्रद :** कराधान सम्बन्धी नीतियों में सरकार को भी मांग की लोच सम्बन्धी व्याख्या से बड़ी सहायता मिलती है। सरकार जिन वस्तुओं पर कर लगाती है उनकी मांग की लोच के विषय में उसे स्पष्ट जानकारी होनी चाहिए। सामान्यतः लोचदार मांग वाले पदार्थों पर जो कर लगाये जाते हैं, उन करों का बोझ उत्पादक, उपभोक्ताओं पर नहीं डाल सकते। इसके विपरीत बेलोच मांग वाले पदार्थों पर लगाए गए करों का बोझ आसानी से उपभोक्ताओं पर डाला जा सकता है। इस प्रकार मांग लोच इस बात को निर्धारित करने में बड़ा महत्व रखती है कि कर का बोझ किस पर पड़ता है।

7. **मजदूरी निर्धारण में सहायक :** मांग की लोच मजदूरी निर्धारण को समझने में भी बड़ी सहायता देती है। यदि श्रमिकों की मांग बेलोच है तो मजूदर संघ ऊंची मजदूरी की मांग कर सकते हैं तथा मालिकों को उन्हें ऊंची मजदूरी देनी भी पड़ती है। दूसरी और यदि श्रमिकों की मांग लोचदार है, तो मजदूर संघ उनकी मजदूरी बढ़वाने में सफल नहीं हो सकते।

Unit-4

लागत का सिद्धान्त
(Theory of Costs)

लागत (Cost of Production)

उत्पादन लागत क्या है? प्रत्येक फर्म किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए उत्पादन के साधनों का प्रयोग करती है। उत्पादन के साधनों का प्रयोग करने के लिए जो रकम खर्च करनी पड़ती है उसे उत्पादन लागत कहते हैं। उत्पादन लागत मुख्य रूप से उत्पादन की मात्रा पर निर्भर करती है।

$$C > f(Q)$$

मौद्रिक लागत (Monetary Cost) : किसी वस्तु का उत्पादन तथा बिक्री करने के लिए मुद्रा के रूप में जो धन खर्च करना पड़ता है उसे उस वस्तु की मौद्रिक लागत कहते हैं।

Example : 500 दर्जन कापियों का उत्पादन करने की लागत 2000 रुपए है तो इन दो हजार रुपयों को 500 कापियों की मौद्रिक लागत कहा जाएगा। अर्थशास्त्री लागत या मौद्रिक ताकत में निम्नलिखित खर्च को शामिल करते हैं।

(1) कच्चे माल की कीमत (2) ब्याज (3) लगान (4) मजदूरी (5) बिजली या चालक शक्ति का खर्च (6) घिसावट (7) विज्ञापन का खर्च (8) बीमा (9) पैकिंग (10) ट्रांसपोर्ट पर किए जाने वाला खर्च (11) सामान्य लाभ

अवसर लागत (Opportunity Cost) : जब किसी एक वस्तु के उत्पादन में साधनों का प्रयोग किया जाता है तो अन्य वस्तुओं की उन मात्राओं का त्याग करना पड़ता है जिनके उत्पादन में ये साधन सहायक होते हैं।

मान लीजिए, एक किसान एक खेत पर गेहूं तथा चना दोनों फसलें पैदा कर सकता है। यदि 1 हेक्टेयर के खेत पर वह केवल गेहूं उत्पन्न करता है तो उसे चने का त्याग करना पड़ेगा। यदि चने की मात्रा की कीमत एक हजार रुपए है तो गेहूं की अवसर लागत 1,000 रुपए होगी।

परिभाषा—(1) फर्गुसन के अनुसार, ''वस्तु की इकाई उत्पन्न करने की अवसर लागत वस्तु की वह मात्रा है जिसका त्याग करना पड़ेगा ताकि साधनों का प्रयोग वस्तु के स्थान पर X वस्तु का उत्पादन करने के लिए किया जा सके।''

अवसर लागत में स्पष्ट लागतें तथा निहित लागतें शामिल होती हैं।

(1) स्पष्ट लागतें (Explicit Costs) : एक फर्म द्वारा किए जाने वाले वे सभी खर्चे जिनका भुगतान दूसरों को किया जाता है, स्पष्ट लागतें कहलाती हैं।

फर्म के द्वारा दी जाने वाली मजदूरी, कच्चे व अर्धनिर्मित माल के भुगतान, ऋणों पर दिया जाने वाला, ब्याज व घिसावट पर किए जाने वाले भुगतान आदि स्पष्ट लागतें कहलाती हैं।

(2) निहित लागतें (Implicit Costs) : एक उद्यमी के अपने स्वयं के साधन की लागत को निहित लागतें कहा जाता है। एक उद्यमी की अपनी पूंजी पर ब्याज, भूमि का लगान, श्रम की मजदूरी तथा उद्यमी के कार्य के लिए मिलने वाले सामान्य लाभ निहित लागतों में शामिल होते हैं।

कुल लागत = स्पष्ट लागतें + निहित लागतें

लागत का सिद्धांत
(Theories of Cost)

लागत सम्बन्धी सिंद्धातों को निम्नलिखित दो भागों में बाँटा जा सकता है।

लागत सिद्धांत

- लागत का परम्परावादी सिद्धांत
- लागत का आधुनिक सिद्धांत

लागत के परम्परावादी तथा आधुनिक सिद्धांत में मुख्य अन्तर यह हैं कि परम्परावादी अर्थशास्त्री औसत तथा सीमान्त लागत वक्रों को U आकार की मानते हैं जबकि आधुनिक अर्थशास्त्री इन वक्रों को L आकार का मानते हैं।

1. लागत का परम्परावादी सिद्धांत : परम्परावादी सिद्धांत में समय अवधि के अनुसार लागतों का अध्ययन दो भागों में किया जाता है।

(a) अल्पकाल में लागत

(b) दीर्घकाल में लागत

लागतें मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती है।

(1) कुल लागत

(2) औसत लागत

(3) सींमान्त लागत

(A) अल्पकाल में लागत : अल्पकाल समय की वह अवधि है जिसमे उत्पादन के कुछ साधन स्थिर (fixed) होते हैं तथा कुछ साधन परिवर्तनशील (Veriable) होते हैं। अल्पकाल में कुछ लागत, औसत लागत तथा सीमांत लागत का अध्ययन निम्न प्रकार से किया जा सकता है।

(1) कुल लागत (Total Cost) : एक वस्तु के विभिन्न स्तरों का उत्पादन करने के लिये जो धन व्यय करना पड़ता है उसे कुल लागत कहते हैं। यदि 500 कापियों का उत्पादन करने के लिये 200 रुपये कुल खर्च करना पड़ता है तो इन 500 कॉपियों की कुल लागत 2000 रुपये होगी।

अल्पकाल में कुल लागतें दो प्रकार की हो सकती हैं।

TC = FC + VC

TC = कुल लागत

FC = बन्धी लागत

VC = परिवर्तनशील लागत

(i) बन्धी या पूरक लागत : अल्पकाल में स्थिर साधनों की कुल लागत को बन्धी लागत कहा जाता है। ये उत्पादन की मात्रा के साथ परिवर्तित नहीं होती। यदि उत्पादन यदि उत्पादन शून्य हो या अधिकतम हो, बन्धी लागत इतनी ही रहेगी। बन्धी लागत में निम्नलिखित खर्च शामिल होते हैं।

(1) किराया (2) घिसावट (3) प्रबन्धक, स्थायी कर्मचारियों का वेतन (4) बन्धी हुई पूँजी पर व्याज (5) लाइसेन्स फीस (6) सामान्य लाभ

तालिका नं. 4.1: परिवर्तनशील लागत

उत्पादन की मात्रा	परिवर्तनशील लागत
0	10
1	10
2	10
3	10
4	10
5	10
6	10
7	10

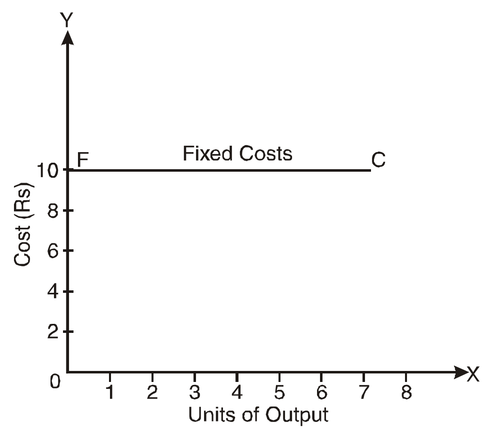

चित्र 4.1

(ii) परिवर्तनशील लागतें : ये वे लागते हैं जो उत्पादन के घटते बढ़ते साधनों के प्रयोग के लिये खर्च करनी पड़ती है। डूली के अनुसार घटती बढ़ती लागत वह लागत है जो उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन होने पर परिवर्तित होती है।

इन लागतों में निम्नलिखित खर्च शामिल होते हैं—

(1) कच्चे माल पर किये जाने वाले खर्च (2) प्रत्यक्ष श्रम की मजदूरी (3) चालक शक्ति जैसे बिजली का खर्च (4) टूट—फूट आदि पर खर्च इसे तालिका तथा रेखाचित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है।

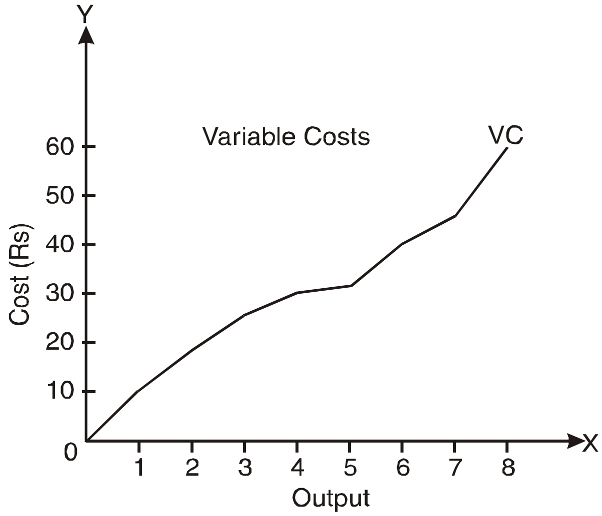

चित्र 4.2

तालिका न. 4.2 : परिवर्तनशील लागत

उत्पादन की मात्रा	परिवर्तनशील लागत (रुपये)
0	0
1	10
2	18
3	24
4	28
5	32
6	38
7	46
8	62

कुल, बन्धी तथा घटती–बढ़ती लागत का सम्बन्ध :—हालैंड के अनुसार, "अल्पकाल कुल लागत बन्धी लागत तथा परिवर्तनशील लागत का जोड़ है। इसे तालिका तथा रेखाचित्र से स्पष्ट किया जा सकता है।

तालिका नं. 4.3 : कुल लागत

उत्पादन	स्थिर लागत (रुपये)	परिवर्तनशील लागत (रुपये)	कुल लागत (रुपये)
0	40	0	10
1	10	10	20
2	10	18	28
3	10	24	34
4	10	28	38
5	10	32	42
6	10	38	48
7	10	46	56
8	10	62	72

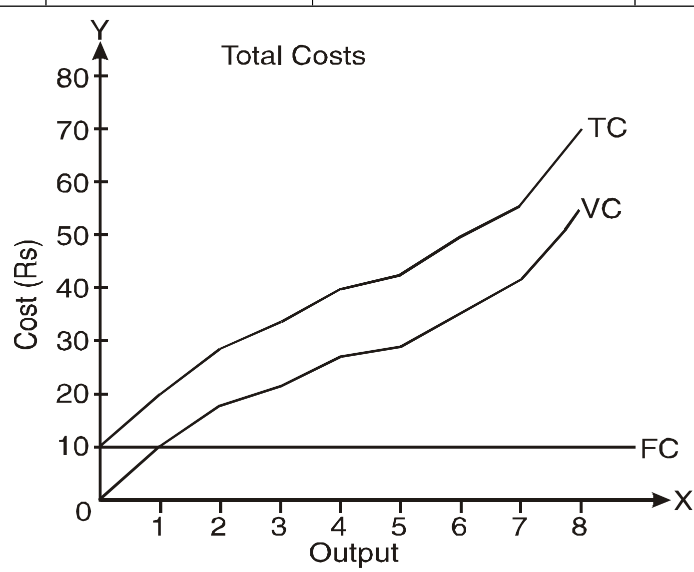

चित्र 4.3

औसत लागत (Average Cost)—किसी वस्तु की प्रति इकाई लागत को औसत लागत कहा जाता है

$$AC = \frac{TC}{Q}$$

AC = औसत लागत

TC = कुल लागत

Q = उत्पादन की मात्रा

अल्पकाल में औसत लागत दो प्रकार की हो सकती है—

(i) औसत बन्धी लागत

(ii) औसत घटती–बढ़ती लागत

(i) औसत बन्धी लागत (Average Fixed Cost) : कुल बन्धी लागत को उत्पादन की मात्रा से भाग देने पर जो भजनफल आता है उसे औसत बन्धी लागत कहते हैं। अर्थात

$$AFc = \frac{Fc}{Q}$$

इसे तालिका तथा रेखाचित्र से स्पष्ट किया जा सकता है।

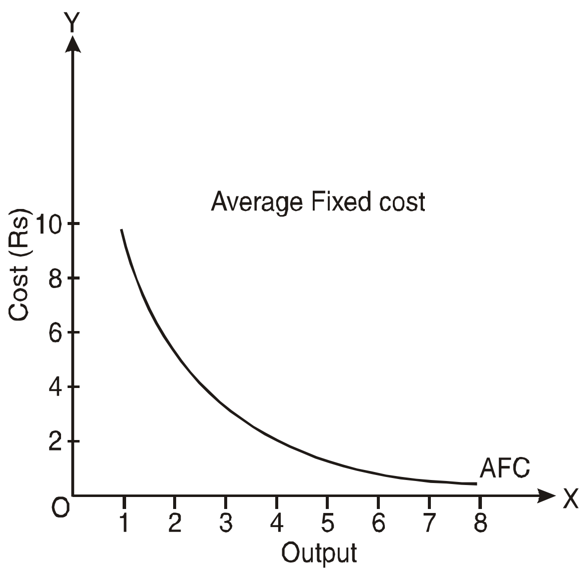

चित्र 4.4

तालिका 4.4

Output	FLI (Rs.)	AFC (Rs.)
1	10	10.0
2	10	5.0
3	10	3.3
4	10	2.5
5	10	2.0
6	10	1.7
7	10	1.4
8	10	1.2

(ii) औसत घटती बढ़ती लागत (Average Variable Cost).

$$AVc = \frac{Vc}{Q}$$

Here, AVc = औसत घटती बढ़ती लागत

Vc = घटती बढ़ती लागत

Q = उत्पादन की मात्रा

इसे तालिका तथा रेखाचित्र से स्पष्ट किया गया है।

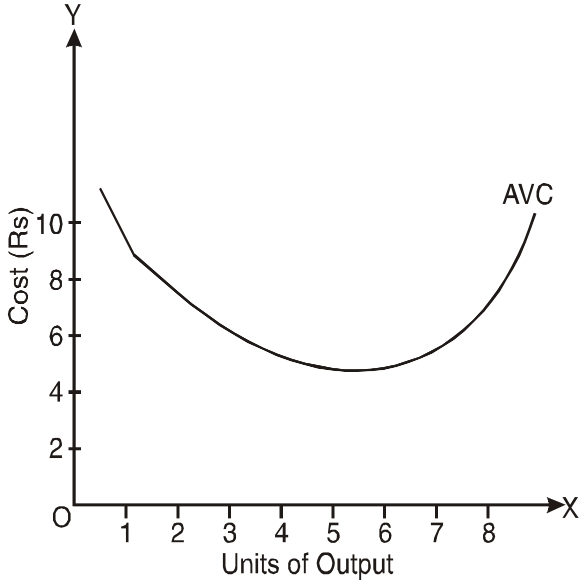

चित्र 4.5

तालिका 4.5 : औसत परिवर्तनशील लागत

उत्पादन	परिवर्तनशील लागत (रु.)	औसत परिवर्तनशील लागत (रु.)
1	10	10
2	18	9.0
3	24	8.0
4	28	7.0
5	32	6.4
6	38	6.3
7	46	6.6
8	62	7.8

(ii) औसत, औसत बन्धी तथा औसत घटती बढ़ती लागत का सम्बन्ध AC=AFC+AVC

इनके सम्बन्ध को तालिका तथा चित्र से स्पष्ट किया है

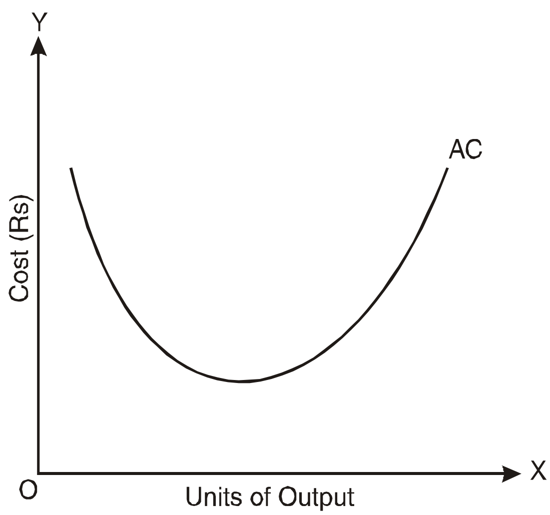

चित्र 4.6

Table 4.6 : Relation between AC, AFC and AVC

उत्पादन की इकाई	AFC	AVC	AC
1	10	10	20.0
2	5.0	9.0	14.0
3	3.3	8.0	11.3
4	2.5	7.0	9.5
5	2.0	6.4	5.4
6	1.7	6.3	8.0
7	1.4	6.6	8.0
8	1.2	7.8	9.0

(3) सीमान्त लागत (Marginal Cost) : किसी वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई का उत्पादन करने से कुल लागत में जो अन्तर आता है उसे सीमान्त लागत कहते हैं।

$$MC = Tc_n - Tc_{n-1} \text{ or } MC = \frac{DTc}{DQ}$$

Here,

MC = सीमान्त लागत

Tc_n = मात्रा की कुल लागत

Tc_{n-1} = मात्रा की कुल लागत

ΔTC = कुल लागत में परिवर्तन

ΔQ = मात्रा में परिवर्तन

मान लीजिए 5 वस्तुओं की कुल लागत 135 रुपये है तथा 6 वस्तुओं की कुल लागत 180 रुपये है। अतएव छठी वस्तु की सीमांत लागत इस प्रकार निकलेगी।

MC = 180-135 = 45 रुपये।

अतएव, छठी इकाई की MC 45 रुपये होगी।

तालिका 4.7 : सीमान्त लागत

उत्पादन	कुल लागत (रु)	सीमान्त लागत (रु)
0	0	—
1	20	20 – 0=20
2	28	28 – 10=8
3	34	34 – 28=6
4	38	38 – 34=4
5	42	42 – 38=4
6	48	48 – 42=6
7	56	56 – 48=7
8	72	72 – 56=16

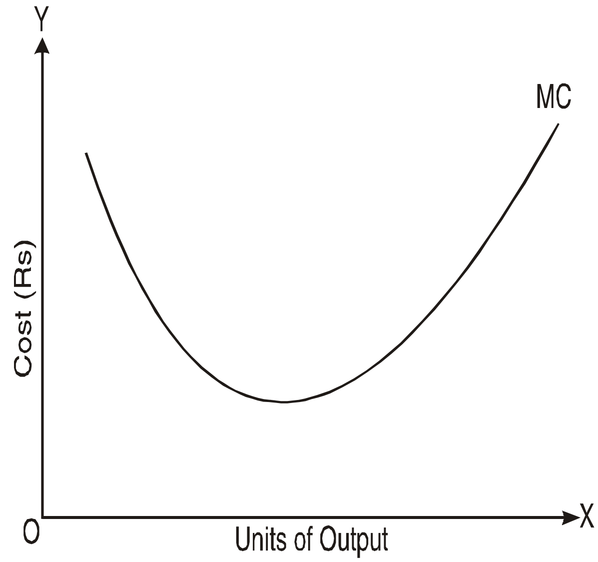

चित्र 4.7

दीर्घकाल में लागतें (Costs in Long-Run)

कोतसुब्यिानी के अनुसार, ''दीर्घकाल वह अवधि है जिसमें सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं।''

इस अवस्था में कोई बन्धी हुई लागत नहीं होती। सभी लागतें घटती–बढ़ती लागतें होती हैं। अल्पकाल की तरह दीर्घकाल में भी लागत की तीन धारणायें हैं—

(1) दीर्घकाल कुल लागत

(2) दीर्घकाल औसत लागत

(3) दीर्घकाल सीमान्त लागत

(1) दीर्घकाल कुल लागत (LTC) : लीभाफास्की के अनुसार, ''दीर्घकालीन कुल उत्पादन के किसी स्तर की न्यूनतम कुल लागत है जबकि सभी साधन परिवर्तनशील हैं।'' दीर्घकालीन कुल लागत सदैव अल्पकालीन कुल लागत से कम होगी या उसके बराबर होगी अर्थात्

$$LTC \leq C$$

इसे रेखाचित्र से स्पष्ट किया जा सकता है।

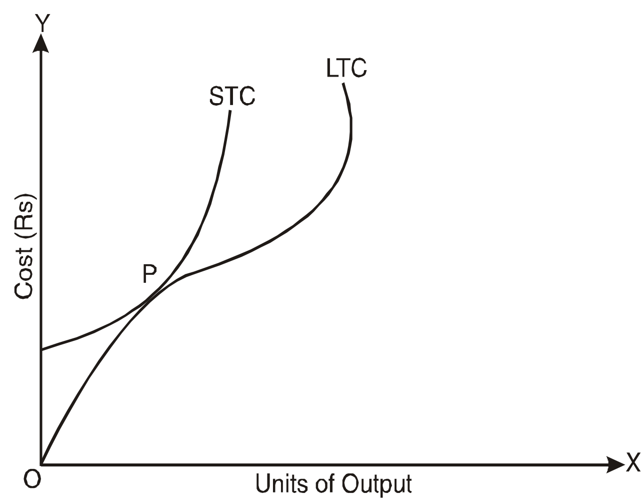

चित्र 4.8

व्याख्या : LTC वक्र STC वक्र को P बिन्दु पर छू रहा है। LTC वक्र पहले घटती दर पर इसके बाद समान दर से तथा अन्त में बढ़ती दर पर बढ़ रही है। LTC मूल बिन्दु O से आरम्भ होती है जबकि STC OY अक्ष के किसी भी बिन्दु से आरम्भ होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि दीर्घकाल में सभी लागतों के परिवर्तनशील होने के कारण जब उत्पादन की मात्रा शून्य होती है तो कुल लागत भी शून्य हो जाती है जबकि अल्पकालीन कुल लागत कभी भी शून्य नहीं होती।

(2) दीर्घकालीन औसत लागत वक्र : दीर्घकालीन औसत लागत, दीर्घकाल में किसी वस्तु की विभिन्न मात्राओं को उत्पन्न करने की प्रति इकाई न्यूनतम सम्भव लागत होती है।

दीर्घकाल में प्रत्येक फर्म विभिन्न प्रकार के प्लांटों का प्रयोग कर सकती है। एक निश्चित उत्पादन की मात्रा के लिए एक विशेष प्रकार का प्लांट उपयुक्त रहता है क्योंकि उस प्लांट की सहायता से उत्पादन करने से औसत लागत न्यूनतम होती है। दीर्घकाल में एक उत्पादक उस प्लांट से उत्पादन करेगा जिससे औसत लागत न्यूनतम हो जाये। उत्पादन की मांग में परिवर्तन होने के साथ–साथ वह प्लांट के आकार भी परिवर्तन करता जायेगा। प्रत्येक प्लांट की एक अल्पकालीन औसत लागत वक्र (SAC) होती है। इसकी सहायता से हम दीर्घकालीन औसत लागत वक्र (LAC) का अनुमान लगा सकते हैं। मान लीजिए एक फर्म दो प्रकार के प्लांटों का प्रयोग कर सकती है। एक छोटा (Small) प्लांट है। उसकी अल्पकालीन लागत वक्र SAC_1 है, दूसरा बड़ा प्लांट है। इसकी अल्पकालीन लागत वक्र SAC_2 है। दीर्घकाल में फर्म इन दोनों प्लांटों में से सबसे लाभदायक प्लांट पर निवेश करने की योजना बना सकती है। उत्पादन की विभिन्न मात्राओं पर इन दोनों अल्पकालीन लागत वक्रों की सहायता से यह ज्ञात किया जा सकता है कि उत्पादन की विभिन्न मात्राओं पर कौन से प्लांट के द्वारा उत्पादन करने में औसत लागत न्यूनतम होगी।

रेखाचित्र नं. 9 में दो प्रकार के प्लांटों की अल्पकालीन औसत लागत वक्रें प्रकट हो गई हैं, यदि फर्म OM मात्रा का उत्पादन करना चाहती है तो वह छोटे प्लांट को चुनेगी। इस प्लांट की सहायता से OM इकाइयों का उत्पादन न्यूनतम औसत लागत BM पर होगा। जैसा कि SAC_1 वक्र से ज्ञात होता है। इसके विपरीत OM इकाइयों का उत्पादन बड़े प्लांट द्वारा करने से औसत लागत बढ़कर AM हो जाएगी। परन्तु यदि फर्म ने ON इकाइयों का उत्पादन करना है तो फर्म बड़े प्लांट का प्रयोग करेगी। इस प्लांट के द्वारा ON इकाइयों का उत्पादन न्यूनतम औसत लागत CN के द्वारा ही किया जा सकेगा। जबकि छोटे प्लांट द्वारा ON मात्रा का उत्पादन करने पर औसत लागत बढ़कर DN हो जायेगी। यदि हम यह मान लें कि फर्म को विभिन्न आकारों के बहुत सारे प्लांट उपलब्ध हैं तो उन प्लांटों के प्रत्येक स्तर की न्यूनतम लागत को प्रकट करने वाली वक्र दीर्घकालीन औसत लागत वक्र कहलयोगी।

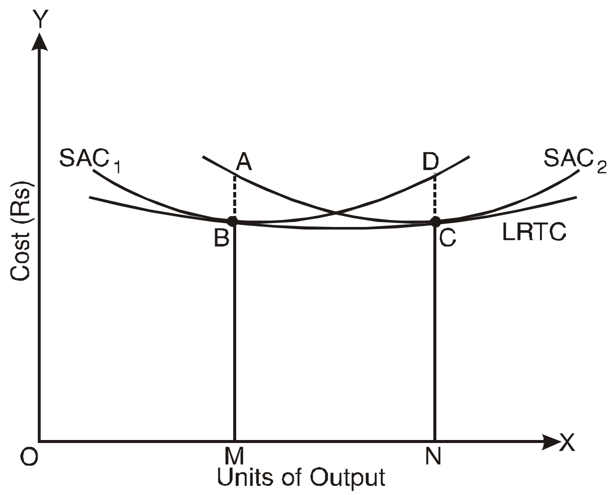

चित्र 4.9

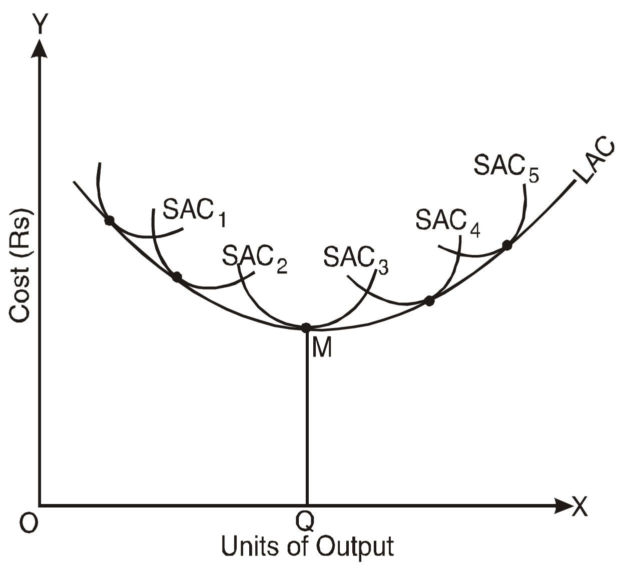

चित्र 4.10

रेखाचित्र नं. 10 में दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) को प्रकट किया गया है। दीर्घकाल औसत लागत वक्र प्रत्येक अल्पकालीन औसत लागत वक्र को किसी न किसी बिन्दु पर अवश्य स्पर्श करती है। दीर्घकालीन औसत लागत के न्यूनतम बिन्दु M से बाईं ओर यह स्पर्शीय बिन्दु (Point of Tangency) अल्पकालीन औसत लागतों के नीचे की ओर गिरते हुए हिस्सों पर हैं। इसका कारण यह है कि न्यूनतम बिन्दु M तक दीर्घकालीन औसत लागत (LAC) वक्र का ढलान ऋणात्मक (Negative) है। इसलिए अल्पकालीन औसत लागत (SAC) वक्र का ढलान भी ऋणात्मक होगा क्योंकि स्पर्शीय बिन्दु पर दोनों वक्रों के ढलान बराबर होते हैं। न्यूनतम बिन्दु M से ऊपर स्पर्शीय बिन्दु

औसत लागत वक्रों के ऊपर की ओर उठते हुए हिस्सों पर होंगे। बिन्दु M के बाद दीर्घकालीन औसत लागत ऊपर की ओर उठ रही है। बिन्दु M पर दीर्घकालीन न्यूनतम औसत लागत तथा अल्पकालीन न्यूनतम औसत लागत एक–दूसरे के बराबर होती है। अतएव केवल M बिन्दु पर ही अल्पकालीन प्लांट का आदर्श उपयोग होता है।

(3) दीर्घकालीन सीमान्त लागत : दीर्घकाल में किसी वस्तु की एक अधिक या कम इकाई उत्पन्न करने से कुल लागत में जो अन्तर आता है उसे दीर्घकालीन सीमांत लागत कहा जाता है।

(i) दीर्घकालीन सीमांत लागत तथा अल्पकालीन सीमांत लागत में सम्बन्ध : एक SMC वक्र से यह ज्ञात होता है कि घटते–बढ़ते साधनों में परिवर्तन से किसी वस्तु की एक अधिक या कम मात्रा का उत्पादन करने के फलस्वरूप कुल लागत पर क्या प्रभाव पड़ेगा। इसके विपरीत LMC वक्र से यह ज्ञात होता है कि सभी साधनों में परिवर्तन होने से किसी वस्तु की एक अधिक या कम मात्रा का उत्पादन करने के फलस्वरूप कुल लागत पर क्या प्रभाव पड़ेगा। जब फर्म वस्तु की दी हुई मात्रा के उत्पादन के लिए एक प्लांट का एक उचित पैमाना बना लेती है तो उत्पादन की इस मात्रा पर अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन लागत वक्र समान हो जाती है।

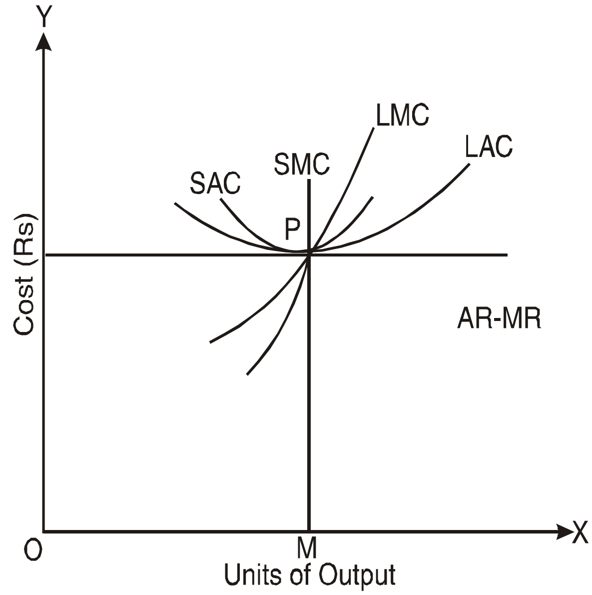

चित्र 4.11

जैसा कि रेखाचित्र से ज्ञात होता है कि इष्टतम उत्पाद OQ पर SMC=LMC। यदि इष्टतम उत्पादन स्तर OQ से कम होगा तो SMC कम होगी तथा LMC उसकी अपेक्षा अधिक होगी। इसके विपरीत यदि उत्पादन इष्टतम स्तर OQ से अधिक होगा तो SMC होगी तथा LMC उसकी अपेक्षा कम होगी।

(ii) दीर्घकालीन सीमांत लागत तथा दीर्घकालीन औसत लागत : LMC तथा LAC में सम्बन्ध भी पिछले रेखाचित्र से स्पष्ट हो जाता है। रेखाचित्र से ज्ञात होता है कि दीर्घकाल में LMC और LAC का वही सम्बन्ध होता है जो अल्पकाल में है। जब LAC गिरती है, LMC उससे कम होती है। LAC के न्यूनतम बिन्दु P पर LMC उसके बराबर हो जाती है। इस रेखाचित्र से यह भी ज्ञात होता है कि LMC वक्र LAC की अपेक्षा अधिक तेजी से नीचे की ओर गिरती है और अधिक तेजी से ऊपर की ओर उठती है। इष्टतम उत्पादन के बिन्दु P पर SAC=SMC=LAC=LMC।

L आकार का दीर्घकाल औसत लागत वक्र : आधुनिक विचारधारा

परम्परावादी अर्थशास्त्रियों तथा आधुनिक अर्थशास्त्रियों के लागत सम्बन्धी सिद्धांतों में मुख्य अन्तर यह है कि परम्परवादी अर्थशास्त्री लागत वक्रों को U-Shafed मानते हैं जबकि आधुनिक अर्थशास्त्री लागत वक्रों को L-Shaped मानते हैं। जिसका अर्थ यह है कि लागत वक्र या दीर्घकालीन औसत लागत वक्र प्रारम्भ में तीव्रता से नीचे गिरता है, परन्तु एक बिन्दु के पश्चात् वह स्थिर रहता है अथवा अपने दाहिने छोर पर धीरे–धीरे नीचे को गिरता हुआ भी हो सकता है। L आकति का दीर्घकालीन औसत लागत वक्र रेखाचित्र में प्रस्तुत किया गया है।

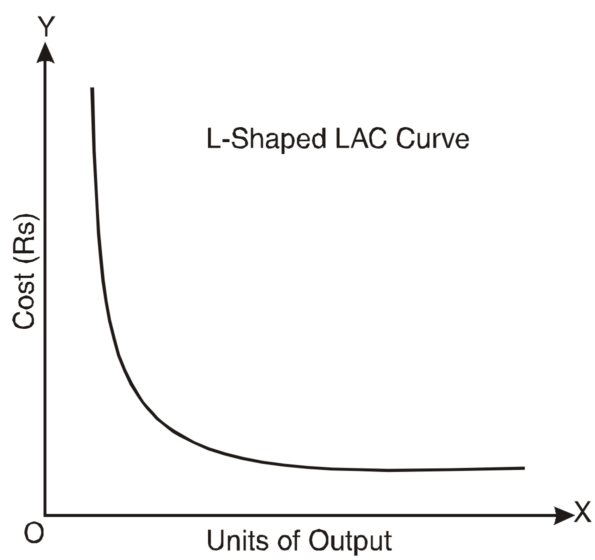

चित्र 4.12

Unit-5

बाजार संरचना
(Market Structures)

बाजार क्या है? (What is Market?)

अर्थशास्त्र में बाजार शब्द का प्रयोग, आम बोलचाल की भाषा की तुलना में, विशेष अर्थों में किया जाता है। आम बोलचाल की भाषा में, बाजार शब्द का प्रयोग किसी उस विशेष स्थान के लिए किया जाता है, जहाँ किसी वस्तु के क्रेता वह विक्रेता आपस में मिलते हैं तथा वस्तु का क्रय–विक्रय करते हैं, **अर्थशास्त्र में बाजार शब्द से अभिप्राय किसी विशेष स्थान से नहीं बल्कि एक ऐसे क्षेत्र से है जहाँ किसी वस्तु की सारे बाजार में एक ही कीमत प्रचलित होने की प्रवत्ति पाई जाती है।** क्रेता तथा विक्रेता को आपस में सम्पर्क करने के लिए स्वयं मिलना आवश्यक नहीं। वे टेलीफोन, तार पत्र व ऐजेण्ट द्वारा भी सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं।

बाजार संरचना के प्रमुख प्रकार (Main Forms of Market Structure)

प्रतियोगिता के आधार पर बाजार को निम्नलिखत भागों में बाँटा जा सकता है:

(1) पूर्ण प्रतियोगी, (2) एकाधिकारी, (3) अपूर्ण प्रतियोगी, (4) द्वैधिकार, (5) अल्पाधिकार।

बाजार संगठन के विभिन्न प्रकार नीचे बने चित्र में दिए गए है: **चित्र 1**

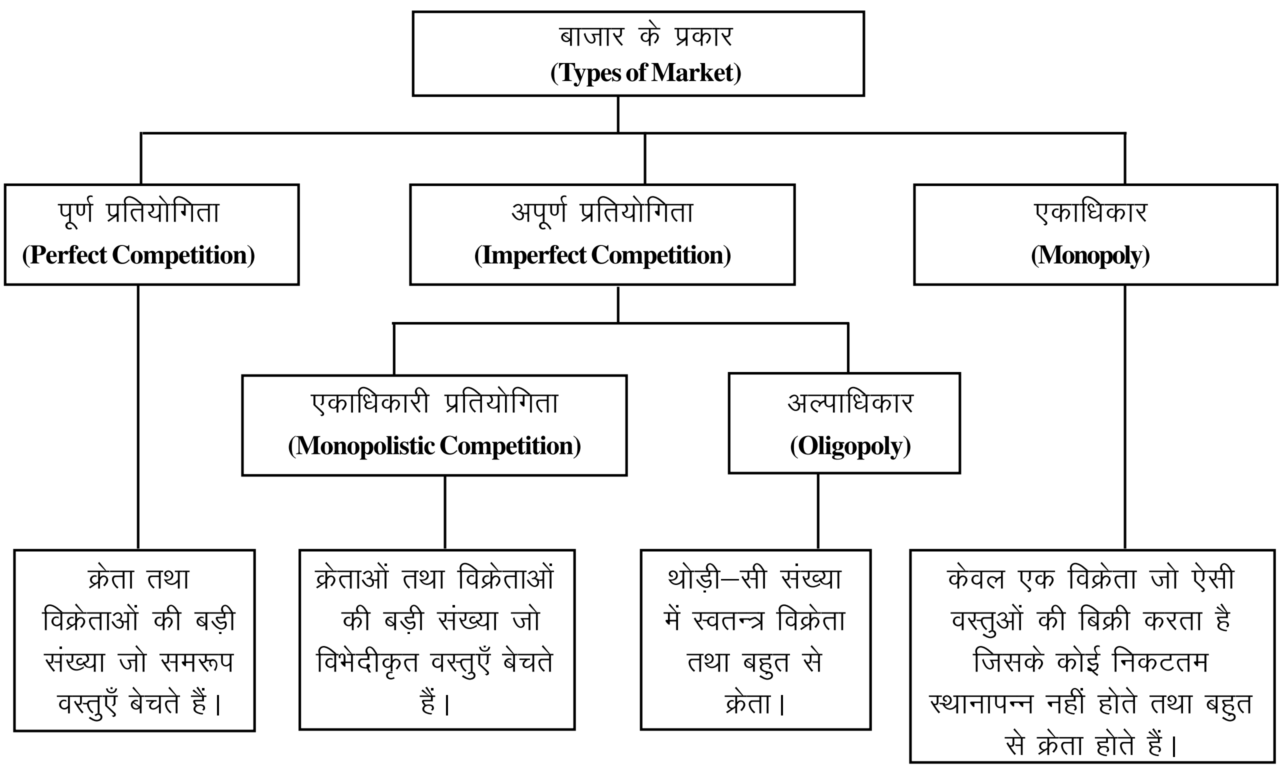

चित्र 5.1

कुछ आधारभूत व्यावसायिक निर्णय (Some Basic Business Decisions)

विभिन्न बाजार संरचनाओं में एक व्यापारी को अनेक प्रकार के व्यावसायिक निर्णय लेने पड़ते हैं। विभिन्न व्यावसायिक निर्णय निम्नलिखित है :

(1) किन वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन किया जाए?

(2) उत्पादन तथा साधन तकनीक क्या अपनाई जाए?

(3) कितना उत्पादन किया जाना चाहिए और किस कीमत पर बेचा जाना चाहिए?

(4) साज–सज्जा (Equipment) को कब बदला जाना चाहिए।

(5) नए प्लांटों का आकार तथा तिथि/स्थान क्या होना चाहिए?

(6) उपलब्ध पूँजी का बँटवारा कैसे किया जाना चाहिए?

(7) लागत को कैसे पूँजी का बंटवारा कैसा किया जाना चाहिए?

(8) बिक्री को अधिकतम करने के लिए क्या रणनीति अपनाई जानी चाहिए।

(9) लागत नियन्त्रण, कीमत नियन्त्रण, कोटि नियन्त्रण (Quality Control), माल सूची नियन्त्रण आदि के लिए क्या रणनीति होनी चाहिए?

(10) बाजार में माँग की प्रकृति तथा मात्रा के निर्धारण के लिए एवं बाजार सर्वेक्षण के लिए क्या रणनीति होनी चाहिए?

(11) सरकार के साथ सम्बन्ध कैसे स्थापित किए जाएँ?

(12) व्यवसाय को चलाने के लिए तथा विभिन्न आर्थिक निर्णय लेने के लिए दक्ष परामर्श (Expert Advice) कैसे ली जानी चाहिए?

भूमिका (Introduction)

व्यावसायिक फर्म से अभिप्राय उस इकाई से है जो वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करती है। फर्म के अन्तर्गत उन सभी उद्यमों को शामिल किया जाता है जो वस्तुओं तथा सेवाओं का उत्पादन करते हैं। फर्म एक एकल स्वामित्त्व संगठन, सांझेदारी या निगम हो सकती है। एक व्यावसायिक फर्म के उद्देश्य से सम्बन्ध में अर्थशास्त्रियों में मतभेद पाया जाता है।

परम्परागत अर्थशास्त्रियों के अनुसार फर्म का उद्देश्य केवल अपने लाभ को अधिकतम करना है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार **संयुक्त पूँजी कम्पनियों** के वर्तमान युग में जहाँ **शेयर धारक** (Shareholder) तथा **मैनेजर** के हितों तथा कार्यों का स्पष्ट विभाजन हो गया है। फर्म के कई वैकल्पिक उद्देश्य (Alternative goals or objectives) हो सकते हैं। फर्म के मुख्य वैकल्पिक उद्देश्य निम्नलिखित हो सकते हैं:

(1) लाभ अधिकतम करना (Profit Maximisation)

(2) आय या बिक्री अधिकतम करना (Revenue or Sales Maximisation)

(3) सन्तुष्टि का अधिकतम करना (Satisfaction Maximisation)

(4) सुरक्षित लाभ (Security Profits)

(5) विकास को अधिकतम करना (Growth Maximisation)

(6) मैनेजर की उपयोगिता को अधिकतम करना (Utility Maximisation or Managerial Discretion)

(7) सन्तोषप्रद सिद्धान्त (Satisficing Theory)

(8) सिरट और मार्च का व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्त (Cyrt and March's Behavioural Theory)

लाभ अधिकतम करना (Profit Maximistion)

परम्परागत अर्थशास्त्रियों (Traditional Economists) के अनुसार एक फर्म का मुख्य उद्देश्य अपने **लाभ क्रो अधिकतम** करना है। लाभ का अनुमान **कुल आय में से कुल लागत** को घटा कर लगाया जा सकता है। (π=TP–TC)। यह एक आधिक्य है जो उद्यमी को उत्पादन के सभी साधनों को उनकी सेवाओं का भुगतान करने के बाद बचती है। इसमें उद्यमी की अपनी सेवाओं के लिए किए जाने वाले भुगतान अर्थात् सामान्य लाभ को भी शामिल कर लिया जाता है। अतएव् एक फर्म को सामान्य लाभ से अधिक जो आय प्राप्त होती है वह **अति-सामान्य लाभ** (Supernormal Profit) है। फर्म का लक्ष्य इसी अतिसामान्य लाभ (Supernormal Profit) को अधिकतम करना है।

1. लाभ अधिकतम करने की दशायें (Conditions of Profit Maximisation)

एक फर्म के लाभ का अनुपात के एक निश्चित स्तर की बिक्री से प्राप्त कुल आय (TR) तथा उसकी कुल उत्पादन (TC) के अन्तर द्वारा लगाया जाता है। अर्थात्

$$\pi = TR - TC$$

(यहाँ π=लाभ; TR=कुल आय; TC=कुल लागत।)

एक फर्म को अपने **लाभ अधिकतम करने के लिए किसी वस्तु की उस मात्रा का उत्पादन करना चाहिए जिस पर निम्नलिखित दो शर्तें पूरी होती हैं।**

(1) सीमान्त आय (MR) = सीमान्त लागत (MC)

(2) सीमान्त आय वक्र का ढलान सीमान्त लागत वक्र के ढलान से कम है अर्थात् सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय वक्र को नीचे से काटती हो।

निकलसन के शब्दों में, ''**आर्थिक लाभ अधिकतम करने के लिए एक फर्म उस मात्रा का उत्पादन करती है जिस पर सीमान्त आय (MR) सीमान्त लागत (MC) बराबर होती है अर्थात् MR=MC तथा सीमान्त लाभ कम हो रहे होते हैं।**''

(In order to maximise profit a firm should choose the output for which marginal revenue is equal to marginal cost and marginal profit must be decreasing of the optimal level of output.—**Nicholson**)

एक फर्म के अधिकतम लाभ को रेखाचित्र 1 (A) (B) तथा 1 (C) द्वारा प्रकट किया जा सकता है। चित्र 1 (A) तथा 1 (C) में OY अक्ष पर आय तथा लागत को प्रकट किया गया है। 1 (B) में OY अक्ष पर कुल लाभ प्रकट किए गए हैं। OX अक्ष पर वस्तु की मात्रा को प्रकट किया गया है। ¼1) चित्र 1 (A) में TC कुल लागत वक्र तथा TR। कुल आय वक्र है। कुल आय वक्र तथा कुल लागत वक्र का अन्तर उत्पादन के उस स्तर पर अधिकतम होगा जिस पर इन दोनों वक्रों का ढलान बराबर होगा। इनका ढलान ज्ञात करने के लिए इन पर दो सामान्तर स्पर्शीय रेखाएँ (Tangents) खींची गई हैं। इनका ढलान बिन्दु A तथा B पर इन दोनों वक्रों का अधिकतम अन्तर ज्ञात करने के लिए इन पर दो **स्पर्शीय रेखाएँ** (Tangents) खींची गई हैं। जिन बिन्दुओं पर स्पर्शीय रेखाएँ समानान्तर होती हैं जिस पर उनका ढलान बराबर होता है। उनका अन्तर अधिकतम होता है। इस रेखाचित्र से ज्ञात होता है कि बिन्दु A तथा बिन्दु B पर स्पर्शीय रेखाओं का ढलान बराबर है इसलिए AB अधिकतम अन्तर होगा जो अधिकतम लाभ को प्रकट कर रहा है। यह ध्यान रखना चाहिए।

जहाँ स्पर्शीय रेखाएँ इन्हें छू रही हैं बराबर हैं। अतएव OQ उत्पादन की मात्रा पर कुल आय वक्र तथा कुल लागत वक्र का अन्तर AB अधिकतम है अर्थात् फर्म को अधिकतम लाभ AB प्राप्त हो रहे हैं। इसके विपरीत उत्पादन की OQ_1 मात्रा तथा OQ_2 मात्रा पर कुल आय तथा कुल लागत बराबर है। अतएव् फर्म को कोई लाभ प्राप्त नहीं होंगे।

(2) रेखाचित्र 1 (B) में कुल लाभ वक्र को प्रकट किया गया है। इस वक्र द्वारा ज्ञात होता है कि उत्पादन की OQ मात्रा पर TP वक्र अपने उच्चतम बिन्दु E पर होगी, अर्थात् OQ मात्रा पर फर्म को अधिकतम लाभ प्राप्त हो रहे हैं।

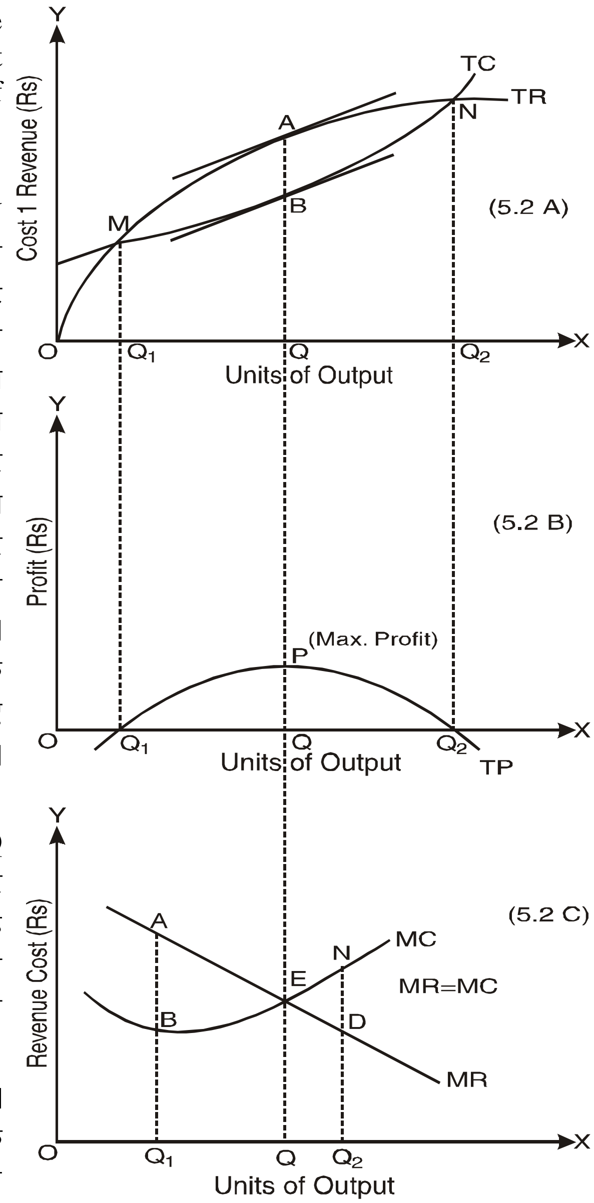

चित्र 5.2

(3) चित्र 3 (C) से ज्ञात होता है कि वस्तु की OQ मात्रा पर सीमान्त आगम वक्र तथा सीमान्त लागत वक्र एक दूसरे को बिन्दु E पर काट रहे हैं अर्थात् वस्तु की OQ मात्रा पर सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत (MR=MC) बराबर है। इसीलिए OX मात्रा पर फर्म को **अधिकतम लाभ** प्राप्त होगी। उत्पादन की Q मात्रा से कम किसी भी अन्य मात्रा OQ_1 की सीमान्त आय AQ सीमान्त लागत BQ_1 से अधिक है (MR>MC)। इससे प्रकट होता है कि फर्म OQ_1 मात्रा से जितना उत्पादन अधिक करती जाएगी उसके लाभ बढ़ते जाएँगे। इसके विपरीत उत्पादन की OQ मात्रा से अधिक किसी भी अन्य मात्रा जैसे OQ_2 की सीमान्त लागत NQ_2 सीमान्त आय DQ_2 से अधिक (MC>MR) है। इससे प्रकट होता है कि फर्म OQ मात्रा से अधिक उत्पादन OQ_2 करने पर फर्म को CD की हानि उठानी पड़ेगी। इसलिए फर्म OQ मात्रा के उत्पादन द्वारा ही अधिकतम लाभ प्राप्त करेगी।

संक्षेप में, परम्परावादी सिद्धान्त के अनुसार फर्म अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए वस्तु की OQ मात्रा का उत्पादन करेगी। इसकी कुल लागत BQ होगी तथा कुल आय AQ होगी। इस प्रकार फर्म को AB=(QP) अधिकतम लाभ प्राप्त होगी। अधिकतम लाभ की स्थिति में सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत बराबर होंगे तथा सीमान्त लागत वक्र सीमान्त आय वक्र को नीचे से काटेगी।

लाभ अधिकतम करने के लक्ष्य के पक्ष में तर्क
(Arguments in favour of Profit Maximisation Goal)

लाभ अधिकतम करने के लक्ष्य के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं:

(1) सबसे मजबूत प्रयोजन (Strongest Motive) : एक फर्म के व्यवहार का सबसे मजबूत दढ़ (Persistent) तथा सार्वभौमिक (Universal) प्रयोजन लाभ प्राप्त होता है। यह ठीक है फर्म अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए भी उत्पादन कर सकती है परन्तु फर्म के व्यवहार पर उन वैकल्पिक लक्ष्यों का एक तो प्रभाव बहुत कम पड़ता है। दूसरे उनका अध्ययन फर्म के अध्ययन को अधिक जटिल बना देगा। इसलिए यह उचित है कि फर्म का लक्ष्य अधिकतम लाभ करना हो।

(2) फर्म के अस्तित्त्व के लिए आवश्यक (Essential for the Survival of the firm) : प्रतियोगिता के वातावरण में फर्मों को जीवित रहने के लिए यह आवश्यक है कि वे अधिकतम लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करें। फर्मों को यह पता होता है कि केवल वे ही फर्म दूसरों की प्रतियोगिता में जीवित रह सकती है जो मजबूत होती है अर्थात् जिनके लाभ अधिक (Survival of the Fillest) होने हैं। अतएव् फर्मों को अपना उत्पादन जारी रखने के लिए अधिकतम लाभ को प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है।

(3) सही भविष्यकथन (Accurate Prediction) : फ्रीडमेन के अनुसार, किसी सिद्धान्त की जाँच उसकी मान्यताओं पर आधारित भविष्यकथनों की सत्यता पर निर्भर करती है। लाभ अधिकतम करने के लिये आधार पर फर्म के उत्पादन सम्बन्धी जो भविष्यकथन किए गए हैं वे सामान्यतया सही साबित हुए हैं। इसलिए लाभ अधिकतम करने के लक्ष्य को सन्तोषजनक माना जाना चाहिए।

(4) तथ्यों पर आधारित (Empirical) : लाभ अधिक करने का लक्ष्य तथ्यों पर आधारित लक्ष्य है। कई अर्थशास्त्रियों जैसे **मैकलप** (Machlup) रीडर (Reader) आदि ने कई फर्मों का अध्ययन करके यह सिद्ध किया है कि एक उद्यमी उत्पादन की मात्रा निर्धारित करते समय सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत को बराबर करने का प्रयत्न करता है अर्थात् अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

(5) फर्मों के समूह व्यवहार की उचित व्याख्या (Proper Explanation of the behaviour of groups of firms) : लाभ अधिकतम करने की मान्यता फर्मों के समूहों के व्यवहार की सामान्य जानकारी प्राप्त करने तथा उसकी व्याख्या करने की एक लाभदायक विधि है। व्यष्टि आर्थिक सिद्धान्त (Micro economic theory) केवल किसी विशेष फर्म के व्यवहार का अध्ययन नहीं है बल्कि यह बाजार की शक्तियों में होने वाले परिवर्तनों के कीमतों तथा उत्पादन की मात्राओं पर पड़ने वाले प्रभावों की व्याख्या तथा उनसे सम्बन्धित भविष्यकथन का अध्ययन है। इसके लिए लाभ अधिकतम करने के लक्ष्य की विशेष उपयोगिता है।

थाम्पसन तथा फार्मबी के अनुसार, ''**लाभ अधिकतम करने का लक्ष्य निम्नलिखित स्थितियों के लिए विशेष रूप से सुविधाजनक है (1) फर्मों की संख्या काफी अधिक है तथा व्यक्तिगत फर्म के लिए कोई भविष्यकथन नहीं किया जाना है। (2) प्रतियोगिता काफी अधिक है। (3) स्थितियों में होने वाले विशेष परिवर्तनों के कीमतों, उत्पादों, आगतों (Inputs) पर पड़ने वाले सामान्य प्रभावों की व्याख्या की जानी हो।**'' (The goal of profit maximisation in suitable in those situations where (1) Large number of firms are involved and nothing has to be predicted about the behaviour of individual firms; (2) Competitive forces are relatively intense; (3) the general effects of a specified change in condition upon prices, outputs and resource inputs are to be explained and predicted.—**Thompson and Formbay**).

लाभ अधिकतम करने के लक्ष्य के विपक्ष में तर्क या आलोचना (Arguments against Profit Maximisation or Criticisms)

कई अर्थशास्त्रियों जेसे **एन्थोनी** (Anthony) **चैम्बरलिन** (Chamberlain) तथा **गैलब्रेथ** (Galbraith) आदि ने लाभ अधिकतम करने के लक्ष्य के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए हैं या निम्नलिखित आलोचनायें की हैं :

(1) अनिश्चितता (Uncertainty) : आलोचकों के अनुसार फर्में अनिश्चितता के कारण लाभ को अधिकतम नहीं कर पातीं। अनिश्चितता का मुख्य कारण फर्मों को बाजार की पूरी जानकारी नहीं होना है। फर्मों के लिए उत्पादन सम्बन्धी कई विकल्प होते हैं। परन्तु अपूर्ण जानकारी तथा अनिश्चितता के कारण उनके लिए यह तय करना कठिन होता है कि कौन से विकल्प से अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकता है। इसलिए अधिकतम लाभ के लक्ष्य की कोई वास्तविकता नहीं रह जाती।

(2) संयुक्त पूँजी कम्पनियों का लक्ष्य अलग हो सकता है (The goal of joint Stock companies may be different) : संयुक्त पूँजी कम्पनियों में **शेयर धारकों** (Share holders) तथा मैंनेजरों के हित अलग–अलग हो सकते हैं। मैंनेजरों का लक्ष्य लाभ अधिकतम करने के स्थान पर बिक्री अधीकितम करना या उत्पादन को अधिकतम करना हो सकता है। संयुक्त पूँजी कम्पनियों का वास्तविक संचालन मैनेजरों द्वारा किया जाता है। शेयर धारकों को अपने निवेश पर सन्तोषजनक लाभ मिलते रहे तो वे मैनेजरों के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करते। मैजेजरों का हित कम्पनी के विकास तथा अपनी बढ़ती हुई तनख्वाह में होता है। इसीलिए वे अधिकतम लाभ के स्थान पर अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होते हैं। **थाम्पसन तथा फार्मबी** के अनुसार, ''**बड़े निगमों को प्रबन्ध तथा स्वामित्त्व के अलग-अलग होने के कारण मैनेजरों का इस बात का अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वे लाभ अधिकतम करने के लक्ष्य के अतिरक्ति किसी अन्य लक्ष्य को प्राप्त करना चाहिए।** (In the large corporation the separation of control from the ownership gives managers the discretion and pursue goals other than maximum profit.)

(3) अवास्तविक मान्यताएँ (Unrealistic Assumption) : अधिकतम लाभ प्राप्त करने का लक्ष्य उस मान्यता पर आधारित है कि फर्में सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय की गणना कर सकती है। वे वस्तु की मात्रा का उत्पादन करती हैं जिस पर सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय बराबर होती हैं। परन्तु वास्तव में फर्में उत्पादन सम्बन्धी निर्णय लेते समय सीमान्त लागत (MC) तथा सीमान्त आय (MR) की गणना नहीं करती। **हाल तथा हिच** (Hall and Hitch) ने 32 महत्त्वपूर्ण उद्यमकर्ताओं का इन्टरव्यू करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला कि उन्हें सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय का कोई ज्ञान नहीं होता। इसलिए वे कभी भी अपने उत्पादन की सीमान्त लागत को सीमान्त आय के बारबर करने का प्रयत्न नहीं करते। **हाकिन्स** ने लाभ अधिकतम करने के लक्ष्य की आलोचना करते हुए कहा है कि इस कथन का कि सभी फर्मों का लाभ अधिकतम करने के अतिरिक्त और कोई लक्ष्य नहीं है उसी प्रकार कोई तार्किक आधिक्य नहीं है जिस तरह इस कथन का कि सभी विद्यार्थियों को परीक्षा में अधिकतम अंक प्राप्त करने चाहिए चाहे वे उसके लिए सही या गलत तरीका अपनाएँ। (To argue that all firms aim to do nothing else but maximise profits has own better basis in logic or intution than to argue that all students aim only and maximise examination makes by foul or fair means.—**Hawkins**)

(4) अव्यावहारिक (Impractical) : आलोचकों के अनुसार प्रत्येक फर्म को व्यावहारिक रूप से कई कार्य करने पड़ते हैं जिनके फलस्वरूप लाभ अधिकतम करने का लक्ष्य अव्यावहारिक हो जाता है। इस प्रकार के कार्यों में राजनैतिक दलों को

चन्दा देना, मजदूरों से कम काम लेना, मालिकों का पूर्ण रूप से कुशल न होना, हिसाब–किताब (Accounts) की पूर्ण जानकारी न होना आदि शामिल होते हैं। इसके फलस्वरूप जैसा कि **हिक्स** ने कहा है फर्म लाभ अधिकतम करने के लिए पर्याप्त मेहनत करने के स्थान पर **शान्तजीवन** (Quiet Life) व्यतीत करना पसन्द करते हैं।

(5) अल्पाधिकार में सम्भव नहीं है (Not Possible in Oligopoly) : आधुनिक युग में अल्पाधिकार की प्रवति बढ़ती जा रही है। इस प्रकार के बाजार में कुछ थोड़ी–सी फर्में वस्तु का उत्पादन करती हैं। अल्पाधिकार में यह संभव है कि बढ़ी फर्म जो कीमत तय कर लेती है बाकी फर्में उसी पर अपना उत्पादन बेचे अल्पाधिकार की स्थिति में फर्मों का लक्ष्य लाभ को अधिकतम करने के स्थान पर अपने को जीवित रखना होता है।

(6) माँग की जानकारी का अभाव (Lack of the Knowledge of Demand) : **स्टोनियर** तथा **हेग** के अनुसार फर्मों को सीमान्त लागत का ज्ञान तो हो सकता है परन्तु उन्हें सीमान्त आय (MR) का पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि फर्मों के लिए माँग का पूर्ण रूप से सही अनुमान नहीं लगाना सम्भव नहीं होता। लागत के साथ–साथ माँग के अनुमान के बिना फर्में अपने लाभ को अधिकतम नहीं कर सकतीं।

(7) उपयुक्त लक्ष्य नहीं है (Not a Proper Goal) : फर्मों के लिए कई कारणों से लाभ अधिकतम करने का लक्ष्य उपयुक्त लक्ष्य नहीं होता। लाभ अधिकतम करने के लक्ष्य के उपयुक्त नहीं होने के कारण हैं जैसे (1) उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश का डर, (2) मजदूर संगठनों द्वारा अधिक मजदूरी तथा बोनस की माँग करने का डर, (3) लाभ के सम्बन्ध में निरन्तर चिन्तित बना रहना आदि।

संक्षेप में, लाभ अधिकतम करने का लक्ष्य एक कठिन तथा अवास्तविक लक्ष्य है।

बिक्री अधिकतम करने का लक्ष्य
(Revenue Maximisation Goal)

प्रो. बामोल ने अपनी पुस्तक 'Business Behaviour, Value and Growth' में **बिक्री अधिकतम** करने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। एक फर्म का मुख्य उद्देश्य **बिक्री** (Sale) को अधिकतम करना होता है। बिक्री से उनका अभिप्राय वस्तु को बेचने से प्राप्त **कुल आय** (Total Revenue) से है। इसलिए इस उद्देश्य को **बिक्री अधिकतम लक्ष्य** (Sale Maximisation Goal) भी कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार, जब फर्में **लाभ के एक सर्वमान्य स्तर को प्राप्त कर लेती हैं तो उनका उद्देश्य लाभ को अधिकतम करने के स्थान पर बिक्री का अधिकतम करना हो जाता है।** (One profits reach acceptable levels, the goal of the firms become maximisation of sales revenue and rather than maximisation of profits.)

परिभाषा (Dfinition)

बामोल के अनुसार, **''बिक्री अधिकतम लक्ष्य के अनुसार फर्मों के मैनेजर लाभ के एक सन्तोषजनक स्तर को प्राप्त करने के बाद अपनी बिक्री को अधिकतम करने का प्रयत्न करते हैं।''** (The Sales maximisation goal says that managers of firms seek and maximise their sales revenue subject to the constraint of earning a satisfactory profits. **Baumoul**)

उपरोक्त परिभाषा से ज्ञात होता है कि जब फर्मों के लाभ इतने हो जाते हैं कि वे अपने हिस्सेदारों को सन्तुष्ट रख सके तो प्रबन्धकों का प्रयत्न लाभों को अधिकतम करने के स्थान पर बिक्री से आय को अधिकतम करना होता है। इस सिद्धान्त का अध्ययन करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि फर्में लाभ को एकदम भुला नहीं देती है। वे लाभ के एक सामान्य स्तर को अवश्य प्राप्त करना चाहती है परन्तु जब एक बार लाभ के सामान्य स्तर को प्राप्त कर लिया जाता है तो उनका लक्ष्य लाभ के स्थान पर बिक्री को अधिकतम करना हो जाता है।

बिक्री अधिकतम करने की शर्तें
(Condition of Revenue or Sales Maximisation)

एक फर्म अपने उत्पादन की बिक्री से प्राप्त कुछ आय (Total Revenue) को अधिकतम करने के लिए उस वस्तु का उस मात्रा में उत्पादन करती है जिस पर उसकी सीमान्त आय (Marginal Revenue) शून्य हो जाती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यदि फर्म उस मात्रा से जिस पर सीमान्त आय शून्य हो गई है अधिक उत्पादन करेगी तो उसकी कुल आय कम हो जाएगी। अधिकतम कुल आय के लक्ष्य की रेखाचित्र 2 की सहायता से व्याख्या की जा सकती है :

चित्र में OX अक्ष पर वस्तु की मात्रा तथा OY अक्ष पर आय लागत तथा लाभ को प्रकट किया गया है। PN वक्र सीमान्त आय (MR) वक्र है तथा PD वक्र औसत आय (AR) वक्र है। चित्र 2A में TR कुल वक्र, TC कुल लागत वक्र तथा TP कुल लाभ वक्र है। PP रेखा न्यूनतम लाभ को प्रकट कर रही है।

फर्म अपनी आय (Revenue) को अधिकतम करने के लिए OQ मात्रा का उत्पादन करेगी क्योंकि OQ मात्रा पर सीमान्त आय जैसा कि चित्र 3 (B) में बिन्दु N से ज्ञात हो रहा है शून्य है। परन्तु OQ मात्रा पर फर्म को न्यूनतम लाभ से कम लाभ मिलेंगे। यदि फर्म OQ मात्रा से अधिक उत्पादन करेगी तो सीमान्त आय ऋणात्मक हो जाएगी तथा कुल आय कम हो जाएगी तथा चित्र 3 (A) से ज्ञात हो रहा है कि कुल आय AQ अधिकतम है।

(ii) चित्र 3A से यह ज्ञात हो रहा है कि यदि फर्म KQ_1 न्यूनतम लाभ प्राप्त करना चाहती है तो वह QQ_1 मात्रा का उत्पादन करेगी। फर्म को BQ_1 आय (Revenue) प्राप्त होती है जो अधिकतम आय से कम होगी। उत्पादन के इस स्तर पर फर्म को K_2Q_2 लाभ प्राप्त होंगे।

(3) यदि फर्म का उद्देश्य लाभ अधिकतम करना है तो वह OQ_2 मात्रा का उत्पादन करेगी जिस पर सीमान्त आय (MR) तथा सीमान्त लागत (MC) बराबर होगी। अतएव् इस स्थिति में फर्म की कुल आय CQ_2 होती जो अधिकतम आय AQ से काफी कम होगी। अतएव् चित्र 2 से यह स्पष्ट हो जाता है कि आय अधिकतम करने वाली फर्म लाभ अधिकतम करने वाली फर्मों की तुलना में अधिक मात्रा का उत्पादन करेगी। परन्तु उसमें लाभ कम होंगे क्योंकि उसकी सीमान्त आय सीमान्त लागत (MC) से कम (MR < MC) है।

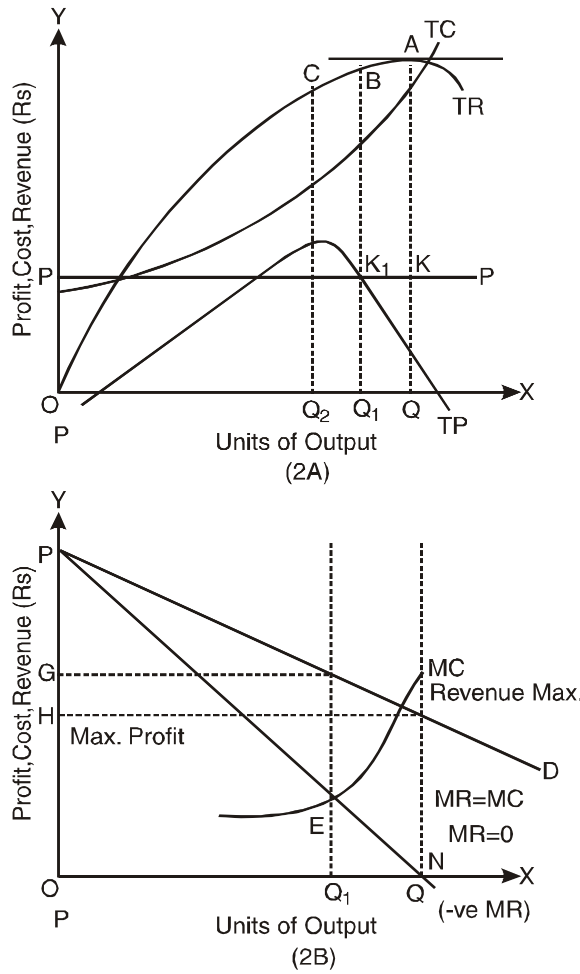

चित्र 5.3

यह ध्यान रखना चाहिए कि फर्म के कुल आय न्यूनतम लाभ की मात्रा पर निर्भर करेगी यदि न्यूनतम लाभ की मात्रा KQ है तो फर्म को अधिकतम आय प्राप्त हो सकेगी परन्तु यदि न्यूनतम लाभ K_1Q_1 है तो फर्म को अधिकतम से कुछ कम आय प्राप्त होगी।

बिक्री अधिकतम करने के लक्ष्य के पक्ष में तर्क
(Arguments in Favour of Maximisation of Sales Goal)

बिक्री अधिकतम करने के लक्ष्य के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं :

(1) अधिक वास्तविक (More Realistic) : बिक्री अधिकतम करने का लक्ष्य एक अधिक वास्तविक लक्ष्य है। वास्तव में फर्में लाभ अधिकतम करने के स्थान पर बिक्री को अधिकतम करने को अधिक महत्त्व देती हैं। इसका कारण यह है सामान्यता एक फर्म की सफलता का अनुमान उसकी कुल बिक्री से लगाया जाता है। **फर्गुसन तथा क्रोस** के अनुसार, फर्म के उद्देश्यों

के सम्बन्ध में **''प्रतिपादित किये गए विभिन्न विकल्पों में से बामोल द्वारा प्रतिपादित विकल्प का एक बड़ा लाभ है–यह वास्तविक तथा विश्वसनीयता की दिशा में पुराने मॉडलों में सुधार करता है तथा साथ ही सामान्य सैद्धान्तिक विश्लेषण को सम्भव बनाता है।''** (Among the various alternatives advanced Baumol's thesis has great advantage—it raises the other models in the direction of reality and plausibility while still permitting a rather general theoretical analysis. **—Ferguson and Cross**)

(2) अधिक व्यावहारिक (More Practical) : बामोल द्वारा प्रतिपादित आय अधिकतम करने का सिद्धान्त अधिक व्यावहारिक है। इसका कारण यह है कि बिक्री अधिकतम करने के उद्देश्य के फलस्वरूप उत्पादन अधिक होता है तथा कीमत कम होती है। इसके फलस्वरूप उपभोक्ता के कल्याण में अधिक वद्धि होती है। वे भी फर्मों के इस उद्देश्य का अधिक समर्थन करते हैं।

(3) अधिक ऋण प्राप्ति (More Avaliability of Loans) : वित्तीय संस्थायें किसी फर्म को ऋण देते समय मुख्य रूप से उसकी बिक्री को ध्यान में रखती हैं। जिस फर्म की बिक्री अधिक होती है उसे ऋण मिलने की सम्भावना होती है।

(4) बाजार में मजबूत स्थिति (Strong Position in the Market) : किसी फर्म की बिक्री का अधिकतम होना बाजार में उसकी मजबूत स्थिति का प्रतीक है। एक फर्म की बिक्री उस स्थिति में ही अधिक होती जब उपभोक्ता उस फर्म के उत्पादन को स्वीकार कर ले फर्म की **प्रतियोगी शक्ति** अधिक हो जाए तथा फर्म का विकास हो रहा हो। एक फर्म के लिए ये सभी स्थितियाँ उसकी प्रगति की प्रतीक हैं।

(5) प्रबन्धकों के लिए अधिक हितकारक (More Advantageous to the Managers) : एक फर्म की बिक्री का अधिकतम होना उसके मैनेजरों के अधिक हित में है। इसके फलस्वरूप बाजार में उनकी साख बढ़ती है। बिक्री का अधिकतम होना मैनेजरों की योग्यता का प्रतीक माना जाता है। इसका उनके वेतन पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है। वे फर्म के कर्मचारियों को भी अधिक वेतन देने की स्थिति में होते हैं। इसके फलस्वरूप उनके कर्मचारियों से अच्छे सम्बन्ध बने रहते हैं। इसलिए फर्म के मैनेजर इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि लाभ के एक सामान्य स्तर को प्राप्त करने के बाद वे फर्म की बिक्री को अधिकतम करे।

आलोचनाएँ (Criticisms)

बामोल के सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :

(1) लाभ सम्बन्धी बाधा (Profit Constraint) : बामोल का बिक्री अधिकतम करने का लक्ष्य लाभ की न्यूनतम मात्रा पर निर्भर करता है। परन्तु वास्तव में यह तय करना कठिन होता है कि लाभ की न्यूनतम मात्रा कितनी होनी चाहिए। लाभ की न्यूनतम मात्रा में परिवर्तन होने पर बिक्री के अधिकतम स्तर में भी परिवर्तन हो जाएगा। इसलिए इस सिद्धान्त द्वारा निर्णय लेने में अनिश्चितता बनी रहेगी।

(2) अवास्तविक मान्याताएँ (Unrealistic Assumptions) : आलोचकों के अनुसार बिक्री अधिकतम करने के लक्ष्य की कई मान्यताएँ जैसे कीमत का स्थिर रहना आदि अवास्तविक हैं।

(3) सीमित क्षेत्र (Limited Scope) : बिक्री अधिकतम करने का लक्ष्य संयुक्त पूँजी कम्पनियों के लिए तो उचित हो सकता है। परन्तु एकल स्वामित्व वाली फर्में (Single Entrepreneurship Firms) तथा साझेदारी फर्मों के लिए यह एक उपयुक्त लक्ष्य नहीं है। ये फर्में बिक्री के स्थान पर लाभ अधिकतम करने के लक्ष्य को प्राप्त करना अधिक पसन्द करती हैं। इसलिए इस धारणा का क्षेत्र सीमित है।

सन्तुष्टि का अधिकतमकरण (Maximisation of Satisfaction)

प्रो. सिटोवस्की (Scitovosky) के अनुसार एक फर्म का मुख्य उद्देश्य सन्तुष्टि को अधिकतम करना है। एक उद्यमी भी लाभों की लागत (अर्थात् लाभ कम या मिलने पर भी) सन्तुष्टि को अधिकतम करना चाहता है। यही कारण है कि लाभ के एक स्तर के बाद उद्यमी की मनोवत्ति यह रहती है कि वह लाभ की तुलना में आराम को अधिक तरजीह (Preference) दे। एक उद्यमी की आय में जैसे–जैसे वद्धि होती है वह वस्तु के उत्पादन करने में जो प्रयास या मेहनत करता है वह उसकी बजाए अधिक आराम (Leisure) करें। सन्तुष्टि के अधिकतमकरण के उद्देश्य को निम्नलिखित रेखाचित्र नं. 3 की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है :

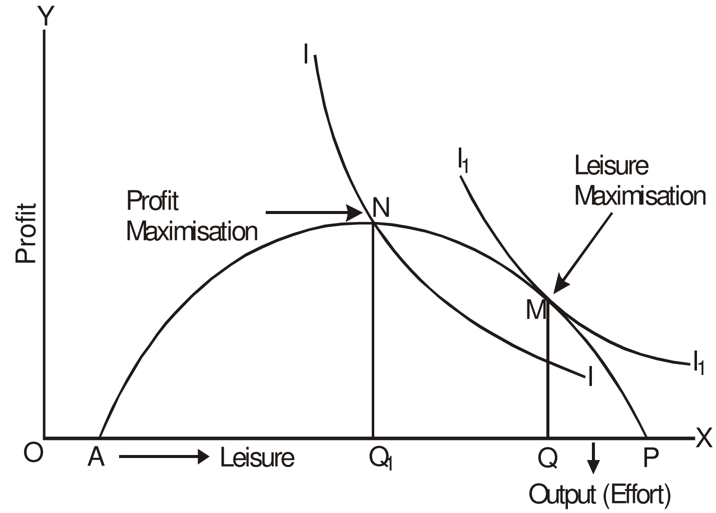

चित्र 5.4

ऊपर रेखाचित्र में, लाभों को OY-अक्षांस और आराम तथा प्रयास (उत्पाद) को OX-अक्षांस पर दिखाया गया है। AP शुद्ध लाभ वक्र है। कुल आय और कुल लागत का अन्तर शुद्ध लाभ है। इस रेखाचित्र में प्रयासों या उत्पादन को बिन्दु P से O की ओर मापा गया है। अधिक प्रयासों का अभिप्राय कम आराम और प्रयासों का अर्थ अधिक आराम है। आराम (Leisure) को OX-अक्षांस पर O से P की ओर मापा गया है। II तथा I'I' दो तटस्थता वक्र हैं। ये दोनों उद्यमी के सन्तुष्टि स्तर को व्यक्त कर रही है जो उसके लाभों तथा आराम के संयोग को बतला रही हैं। उद्यमी की सन्तुष्टि उत्पादन के OQ स्तर पर अधिकतम होगी जहाँ तटस्थता वक्र शुद्ध लाभ वक्र AP को छू रही है। उपरोक्त चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि बिन्दु M पर तटस्थता वक्र शुद्ध लाभ का स्पर्श बिन्दु है। अतएव M बिन्दु पर उद्यमी को अधिक स्तुष्टि प्राप्त होगी। अधिक सन्तुष्टि के M बिन्दु पर उद्यमी उत्पादन की PQ मात्रा का उत्पादन करेगा। उपरोक्त रेखाचित्र यह प्रकट करता है कि उद्यमी N बिन्दु पर अधिकतम लाभ प्राप्त करेगा जो शुद्ध लाभ वक्र AP का अधिकतम बिन्दु है। अधिकतम लाभ पर उत्पादन का स्तर PQ_1 होगा। अन्य शब्दों में लाभ के OM स्तर पर, उद्यमी अपनी सन्तुष्टि को अधिकतम करता है क्योंकि वह OQ आराम प्राप्त करता है जो उस OQ_1 से अधिक है जो वह लाभ अधिकतमकरण (OQ_1) में प्राप्त करता है।

आलोचना (Criticism)

सन्तुष्टि के अधिकतम करने के उद्देश्य की निम्नलिखित आलोचनाएँ हैं :

(1) अवास्तविक (Unrealistic) : आलोचकों का यह मत है कि उद्यमियों का काम करने का निर्णय उनके द्वारा कमाए जाने वाले लाभ से स्वतन्त्र है, अवास्तविक है। सच बात यह है कि फर्म कमाए जाने वाले लाभ को कुशलता तथा सफलता का एक सूचक मानती है। लाभ की राशि को ही फर्म की कुशल कार्यप्रणाली का सूचक माना जाता है। अतएव यह कहना अवास्तविक होगा कि कोई फर्म लाभ अधिकतमीकरण की तुलना में सन्तुष्टि अधिकतमीकरण को अधिक पसन्द करेगी।

(2) सन्तुष्टि एक अस्पष्ट शब्द (Satisfaction on Ambiguous Term) : सन्तुष्टि शब्द की न तो सही शब्दों में परिभाषा दी जा सकती है और न ही इसे सही रूप से मापा जा सकता है। यह कहना कि कोई फर्म अपनी सन्तुष्टि को अधिकतम करती है, एक सामान्य कथन है और इसे मापा नहीं जा सकता।

सुरक्षित लाभ (Security Profits)

प्रो. रोथसचाइल्ड (Rothschild) का कहना है कि किसी फर्म का उद्देश्य **सुरक्षित लाभ** प्राप्त करना होता है। फर्म अधिकतम लाभ से नहीं बल्कि सुरक्षित लाभ से प्रेरित होती है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई भी फर्म अपनी कीमत तथा उत्पादन नीति का निर्धारण करते समय, किसी निश्चित समय अथवा एक समय अवधि में यह उद्देश्य ध्यान में नहीं रखता कि उसे अपने लाभ को अधिकतम करना है बल्कि वह यह बात ध्यान में रखती है कि वह किसी प्रकार एक लम्बी समयावधि तक लाभ का स्थिर प्रवाह प्राप्त कर सकती है। अन्य शब्दों में, फर्म की इच्छा अधिकतम लाभ नहीं बल्कि सुरक्षित लाभ प्राप्त

करने की है। **रोथसचाइल्ड** के शब्दों में, **''एक अन्य उद्देश्य जिसे आसानी से खारिज नहीं किया जा सकता और जो अधिकतम लाभ की भाँति सम्भवतः समान महत्त्व वाला है, वह है सुरक्षित लाभ प्राप्त करने की इच्छा।''** (There is another motive which can not be so lightly dismissed and which is probably of a similar order of magnitude as desire for maximum profit, the desire for secure profits. **—Rothschild**)

रोथसचाइल्ड का विचार है कि अधिकतम लाभ का उद्देश्य पूर्ण प्रतियोगिता, एकाधिकारी प्रतियोगिता तथा एकाधिकार की दशाओं में एक उपयुक्त मान्यता है। पूर्ण प्रतियोगिता या एकाधिकारी प्रतियोगिता में फर्मों की संख्या इतनी अधिक होती है कि किसी भी निजी फर्म को सुरक्षित लाभों का सामना नहीं करना पड़ता। परन्तु एकाधिकार की अवस्था में प्रतियोगिता के विरुद्ध, एकाधिकार की स्थिति होने से, सुरक्षित लाभ सुनिश्चित करना पड़ता है। रोथसचाइल्ड का कहना है कि अल्पाधिकार की अवस्था में फर्म का उद्देश्य लाभ अधिकतम करना नहीं होता, उसे तो वर्तमान फर्मों में अपनी स्थिति को सुरक्षित बनाए रखना होता है। एक अल्पाधिकारी फर्म का एक मुख्य उद्देश्य अपने आपको दीर्घकाल तक व्यावसायिक कार्य करते रहना होता है। अपनी सुरक्षा बढ़ाने की इच्छा **अल्पाधिकारी** फर्म को एक स्थिति प्राप्त करने के संघर्ष की ओर ले जाती है और उस उपयुक्त कीमत के तह करने का आग्रह करती है जिससे फर्म को सुरक्षित प्राप्त हो सकें। असल में रोथसचाइल्ड की परिकल्पना (Hypothesis) लाभ अधिकतम करने का ही एक रूप है।

विकास को अधिक करना (Growth Maximisation)

एक फर्म का **विकास अधिकतमकरण,** आधुनिक निगमों का, एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य स्वीकार किया गया है। इस सिद्धान्त को विकसित व समावेश करने का श्रेय **श्रीमती पेनरोज** (Mrs. Penrose) को जाता है। अपनी पुस्तक "The Theory of Growth of Firms" में उसने सुझाव दिया है कि आधुनिक प्रबन्धक, लाभ अधिकतमीकरण की तुलना में, विकास अधिकतमीकरण के उद्देश्य में अधिक रूचि रखते हैं। परन्तु एक क्रमबद्ध विकास अधिकतमीकरण सिद्धान्त का विकास **श्री आर. टी. मारिस** (R.T. Marriss) तथा बामोल (Baumoul) ने किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार **विकास की दर** तथा **विकास के सम्भाव्य** (Potentials of Growth) दो ऐसे माप यन्त्र हैं जो किसी फर्म की सफलता को मापने के लिए प्रयोग किए जाते हैं। एक फर्म के प्रबन्धक का उद्देश्य अपनी फर्म के विकास को अधिकतम करना होता है। **फर्म के विकास से अभिप्राय उसके आकार, उत्पादन तथा बिक्री में वद्धि से है। फर्म, घरेलू तथा विश्व में नए बाजारों का विस्तार करके, अपने आकार को बढ़ा सकती है। यह नई वस्तुओं के निर्माण तथा बढ़ी हुई माँग के द्वारा सम्भव हो सकता है।**

एस. के. सियो (S.K. Seo) के शब्दों में, परम्परागत (Conventional) लाभ अधिकतमीकरण मॉडल में फर्म बेशक उत्पादन के उस सन्तुलन स्तर को प्राप्त कर लेती है जो उसको अधिकतम लाभ दिलवाए, परन्तु उत्पादन तब तक स्थिर रहेगा जब तक लागत और माँग स्थिर (Constant) है। ऐसा कोई कारण नहीं है कि अधिक बिक्री के लिए फर्म उत्पादन का और अधिक विस्तार करे। **वास्तव में, सम्भवतया माँग और लागत स्थिर नहीं रहते और फर्म विकास तो करना चाहती है ताकि उसे बिक्री अधिकतम करने के लिए प्रेरणा मिल सके।**

किसी भी फर्म को अपना वित्त प्रबन्ध या तो **आन्तरिक स्त्रोतों या बाजार से उधार लेकर** या दोनों माध्यम से करना पड़ता है। विकास के लिए आन्तरिक वित्त प्रबन्ध (Internal Financing) उधार लिए जाने वाले कोषों से अधिक वांछनीय या उत्तम है। इसका मुख्य कारण यह है कि उधार ली गई राशि पर दिया जाने वाला ब्याज या उसकी किश्तों में भुगतानगी भावी विकास क्षमता के मार्ग में एक बाधा सिद्ध हो सकती है। परन्तु आन्तरिक वित्त कोष (Internal Funds) में वद्धि लाभ अधिकतमीकरण द्वारा ही हो सकती है। अतएव् विकास को अधिकतम करने का निर्णय आवश्यक रूप से लाभ के अधिकतम करने का निर्णय है। निगम को हथियाने या दूसरे के हाथों में जाने के डर से बचने के लिए प्रबन्धकों को उस विकास दर का चुनाव करना चाहिए जो बाजार मूल्य को अधिकतम कर दे और उस दर को भी अधिक कर दे जिस पर इसका कब्जा लेना अथवा ले लेना (Take Over) होना चाहिए।

आलोचना (Criticism)

विकास अधिकतमीकरण मॉडल की मुख्य आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :

(i) अवास्तविक मान्यताएँ (Unrealistic Assumptions) : लाभ अधिकतमीकरण का सिद्धान्त अति सरल मान्यताओं पर आधारित है। इसमें यह माना गया है कि साधन कीमतें तथा ब्याज की दर स्थिर रहते हैं। यह भी माना गया है कि आय

तथा लागत अनुसूचियों में भी समय के अनुसार कोई परिवर्तन नहीं होता। परन्तु यह मान लेना अवास्तविक है कि मुख्य घटक जैसे लाभ, बिक्री और लागत में उसी दर में वद्धि होगी।

(ii) वित्त की बाधा (Constraint of Finance) : यह सिद्धान्त वित्त की बाधा की अवहेलना करता है। सच बात तो यह है कि विकास के लक्ष्य को जारी रखने व प्राप्त करने के लिए वित्त आसानी से उपलब्ध नहीं हो सकता।

(iii) अन्तर्निर्भरता की अवहेलना (Ignores Interdependence) : यह सिद्धान्त अल्पाधिकारी अन्तर्निर्भरता की अवहेलना करता है। सिद्धान्त यह मान कर चलता है कि फर्में कीमतों के बारे में स्वतन्त्र निर्णय ले सकती है।

(iv) एक उपयुक्त विकास दर को प्राप्त करने में कठिनाई (Difficulty in Arriving at an Appropriate Growth Rate) : आलोचकों का यह विचार है कि उस विकास दर को प्राप्त करना कठिन है जो स्टॉक एक्सचेंज में फर्म की शेयरों के बाजार मूल्य को अधिकतम कर सके। उस दर को भी निर्धारित करना इतना आसान नहीं जिस पर कि फर्म को कब्जा लेना (Take Over) सम्भव हो सके।

(v) विकास की घटती-बढ़ती दरों की अवहेलना (Ignores Variable Rates of Growth) : इस सिद्धान्त का यह मानना या विश्वास करना गलत है कि फर्म स्थिर दर पर विकास करती रहेगी। असल में फर्म एक समय में अधिक तेज गति से और दूसरे समय में धीमी या कम गति से विकास करने का निर्णय ले सकती है।

प्रबन्धकीय उपयोगिता का अधिकतम करना
(Maximisation of Management Utility)

प्रबन्धकीय उपयोगिता अधिकतमीकरण के सिद्धान्त का विकास **बरले, मीनज, गैलब्रेथ या विलियमसन** (Berle-Means-Galbrath and Williamson) ने अलग–अलग ढंग से किया है। इस सिद्धान्त को **प्रबन्धकीय विवेक सम्बन्धी सिद्धान्त** (Managerial Discretion Theory) भी कहते हैं। यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि शेयरहोल्डर या फर्म के स्वामी तथा प्रबन्धक दो अलग–अलग समूह हैं। स्वामी (Owners) या शेयरहोल्डर अधिक लाभांश (High Dividend) की अपेक्षा करते हैं और इसलिए उनकी रुचि लाभों को अधिकतम करने की है। दूसरी ओर प्रबन्धकों के लाभ अधिकतमीकरण के अतिरिक्त कुछ विभिन्न उद्देश्य हैं। प्रबन्धक जैसे ही लाभ के एक ऐसे रूप को प्राप्त कर लेते हैं जो शेयरहोल्डरों को एक सन्तोषजनक लाभांश प्रदान करा सके और फिर भी विकास बना रहे। इसके बाद प्रबन्धक अपनी आय (Emoluments) बढ़ाने तथा अपने स्टॉफ की संख्या में अधिक करने व उन पर होने वाले व्यय के सम्बन्ध में स्वतन्त्र है। **विलियमसन** के शब्दों में, **''जहाँ तक पूँजी बाजार में दबाव और वस्तु बाजार में प्रतियोगिता अपूर्ण है, इसलिए प्रबन्धक अपने विवेक से लाभों के अलावा अन्य उद्देश्यों को प्राप्त करते हैं।''** (To the extent that the pressure from the capital market and competition in the product market is imperfect, the manager, therefore, has discretion to pursue goals other than profits. **— Williamson**)

बरले तथा मीनज (Berle and Means) ने यह सुझाव दिया है कि ''निगम प्रजातन्त्र का अभाव मालिकों या शेयरहोल्डरों के लिए निगम नीति में परिवर्तन के लिए बहुत कम या कोई भी शक्ति नहीं छोड़ पाता।'' (Lack of corporate democracy leaves owners or shareholders with little or no power to change corporation policy.)

विलियमसन (Williamson) के अनुसार प्रबन्धकीय उपयोगिता फलन को निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :

$$u = f(S, M, ID)$$

इसे पढ़ा जाएगा : प्रबन्धकीय उपयोगिता स्टॉफ पर अतिरिक्त व्यय, प्रबन्धकीय आय तथा विवेकाधीन निवेश का फलन है।

यहाँ (u = प्रबन्धकीय उपयोगिता, S = स्टॉफ पर अतिरिक्त व्यय, M = प्रबन्धकीय आय (Emoluments) तथा ID = विवेकाधीन निवेश (Discretionary Investment)।

प्रबन्धकीय उपयोगिता फलन, फर्म के लाभों की तुलना में प्रबन्धकों की उपयोगिता को अधिकतम करता है। प्रबन्धक से उन नीतियों के अनुसरण करने की अपेक्षा की जाती है जो उसके उपयोगिता फलन के निम्न घटकों को अधिकतम करते हैं :

(i) स्टॉफ का विस्तार (Expansion of Staff) : प्रबन्धक अपने अधीन काम करने के स्टॉफ की कोटि (Quantity) तथा संख्या बढ़ाना पसन्द करेगा। इससे स्टॉफ को मिलने वाले वेतन में वद्धि की जाएगी। अधिक स्टॉफ के होने से प्रबन्ध अधिक

वेतन, अधिक सम्मान तथा अधिक सुरक्षा प्राप्त कर पाएगा।

(ii) प्रबन्धकीय आय में वद्धि (Increase in Managerial Emoluments) : प्रबन्धकीय उपयोगिता प्रबन्धकीय आय पर भी निर्भर करती है। इसमें निम्नलिखित सुविधाएँ शामिल होती हैंः मनोरंजन भत्ता, विलासपूर्ण बढ़िया, ऑफिस, स्टॉफ कार, कम्पनी, टेलीफोन आदि। इस प्रकार का व्यय काफी सीमा तक प्रबन्ध के सम्मान, शक्ति तथा रुतबों का संकेत देता है।

(iii) निवेश की विवेकशील शक्ति (Discretionary Power of Investment) : प्रबन्धकीय उपयोगिता, प्रबन्धक के इस विवेक पर भी निर्भर करती है कि वह सामान्य प्रचालन (Operation) के अतिरिक्त कितना निवेश करता है। प्रबन्धक इस स्थिति में होता है कि विकसित टैक्नालिजी तथा आधुनिक प्लांटों में निवेश करे। हो सकता है कि किए जाने वाले ऐसे निवेश आर्थिक दष्टिकोण से कुशल हो भी सकते हैं और नहीं भी। ये निवेश सामान्यतया प्रबन्धक की निजी सन्तुष्टि से सम्बन्धित होते हैं।

आलोचना (Criticism)

प्रबन्धकीय उपयोगिता फलन की आलोचना अधिकतम अर्थशास्त्रियों ने निम्नलिखित आधार पर की हैं :

(i) अस्पष्ट (Ambiguous) : प्रबन्धक के कार्य में मौद्रिक तथा गैर–मौद्रिक का मिला देना प्रबन्धकीय उपयोगिता फलन को अस्पष्ट बना देता है।

(ii) अधिक संगठनात्मक शिथिलता (More Organisational Slack) : उपयोगिता–अधिकतमीकरण प्रबन्ध के द्वारा प्रबन्धित फर्मों में स्टॉफ पर बहुत अधिक व्यय किया जाता है और लाभ–अधिकतमीकरण फर्मों की तुलना में यह संगठनात्मक शिथिलता को अधिक प्रदर्शित करता है।

(iii) गैर-मौद्रिक लाभों को कम महत्त्व (Less Weightage to Non-monetary Benefits) : आलोचकों का यह मत है कि मुआवजे का माप वेतन के अतिरिक्त मुआवजे को अधिक या पर्याप्त भार (Weightage) अथवा महत्त्व नहीं देता। इसके परिणामस्वरूप वास्तविक जीवन में प्रबन्धकों के लाभ अधिकतम करने वाले व्यवहार का गंभीरता से कम अनुमान (Underestimate) लगाया जा सकता है।

सन्तोषप्रद सिद्धान्त (Satisficing Theory)

लाभ की सन्तोषप्रद नीति का प्रतिपादन **प्रो. हर्टबर्ट साइमन** (Herbert Simon) ने किया था। उनका विचार था कि आँकड़ों की पूर्णता तथा वास्तविक जीवन में अनिश्चितता बने रहने के कारण, किसी भी फर्म की लाभ नीति लाभ को अधिकतम करना नहीं बल्कि **सन्तोषप्रद लाभ** प्राप्त करना है। **सन्तोषप्रद** शब्द का अर्थ सम्पूर्ण निष्पादन (Performance) या उपलब्धि से है। फर्म की इच्छा उत्पादन का सन्तोषजनक स्तर प्राप्त करना, बाजार का सन्तोषजनक शेयर/भाग प्राप्त करना, लाभ का सन्तोषजनक स्तर प्राप्त करना आदि होता है। **फर्म एक लाभ अधिकतम करने वाले उद्यम के स्थान पर सन्तोषप्रद संगठन है।** (The firm is a satisficing organisation rather than a maximising entrepreneur.)

हर्बर्ट साइमन (Herbert Simon) के शब्दों में, **''हमारे लिए धर्म का लक्ष्य लाभ अधिकतम करना नहीं होना चाहिए बल्कि लाभ का एक निश्चित स्तर अथवा दर प्राप्त करना, बाजार के एक स्तर को हासिल करना या बिक्री के एक स्तर को प्राप्त करना होना चाहिए।''** (We expect firm's goals to be not maximising profit but attaining certain level or rate of profit, holding a certain level of market or certain level of sales. **—Herbert Simon**) प्रत्येक फर्म लाभ के कुछ न्यूनतम स्तर की अपेक्षा रखती है। जब उसको यह लक्ष्य प्राप्त हो जाता है तो वह अपनी स्थिति को और आगे सुधारने की आकांक्षा नहीं रखेगी। इसके विपरीत फर्म यदि यह **आकांक्षा स्तर** (Aspiration Level) या लक्ष्य प्राप्त करने में असफल रहती है, तो वह अपने इस स्तर को और नीचे की दिशा की ओर परिशोधित (Revise) करेगी। फर्म दोबारा विभिन्न लक्ष्यों की पूर्ति के लिए प्रयास करेगी ताकि वह भविष्य में इस **आकांक्षा स्तर** को प्राप्त कर सकें। अतः फर्म का उद्देश्य **अधिकतम** (Maximising) न होकर **सन्तोषप्रद** (Satisficing) होता है।

साइमन (Simon) के अनुसार, निजी व्यक्तियों की भाँति फर्मों के भी लक्ष्य हो सकते हैं और इन लक्ष्यों का पुनः मूल्यांकन (Review) किया जाता है। लक्ष्यों तथा आकांक्षाओं से सम्बन्धित तीन स्थितियाँ हो सकती हैं :

(i) वास्तविक कार्यकरण आकांक्षा की तुलना में कम हो;

(ii) वास्तविक कार्यकरण आकांक्षा के बराबर हो; और

(iii) वास्तविक कार्यकरण आकांक्षा से अधिक हो।

पहली स्थिति, भविष्य की अपूर्ण सूचना के कारण हो सकती है। प्रबन्ध खोज व्यवहार (Search Behaviour) शुरू करता है ताकि वह आकांक्षा स्तर से दूर होने का कारण ढूँढ सके। ऐसा सम्भव है कि विभिन्न उद्देश्यों के लिए आकांक्षा स्तर को बहुत ऊँचा रखा गया हो और निम्नलिखित स्थितियों में वास्तविक उपलब्धि आकांक्षा स्तर से पीछे रह गई हो। (a) जहाँ आर्थिक क्रियाओं में व्यापक उतार–चढ़ाव है, (b) जहाँ कार्यकरण में बढ़ती दर पर सुधार न हो रहा हो। यदि आकांक्षा स्तर अप्राप्य रह जाता है, तब इसको नीचे की ओर दोहराया या संशोधित किया जाता है।

दूसरी स्थिति, वास्तविक उपलब्धि आकांक्षा के बराबर होती है। मूल्यांकन (Review) करने पर यह पाया जाता है कि लक्ष्यों को जानबूझकर कम स्तर पर रखा गया है तब इनका ऊपर की ओर संशोधन (Upward Revision) किया जाएगा।

तीसरी स्थिति, प्रशंसनीय स्थिति है। परन्तु फिर भी यह सुनिश्चित करने की आवश्यकता है कि यह स्थिति उपलब्धि की घटती हुई क्वालिटी का परिणाम नहीं है।

उपरोक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है सिवाय पहली स्थिति के, जहाँ फर्म का वास्तविक कार्यकरण आकांक्षा स्तर से कम है, फर्म काफी सीमा तक सन्तोषप्रद होगी। वर्तमान प्रक्रिया आगे भी चलती रहेगी। परन्तु आकांक्षा स्तर से दूर जाने की स्थिति में फर्म को **खोज व्यवहार** अपनाना होगा। परन्तु **साइमन** के अनुसार खोज व्यवहार (Search Behaviour) की एक सीमा होती है क्योंकि खोज व्यवहार के लिए प्रबन्धकों को अतिरिक्त व्यय करना पड़ेगा।

संक्षेप में, चूँकि प्रबन्ध केवल सीमित वैकल्प ही खोज सकता है, इसलिए लाभ अधिकतम करने वाले वैकल्प की अपेक्षा सन्तोषप्रद वैकल्प उपयुक्त है। अतएव कोई भी सयानी फर्म अधिकतमकरण करने की तुलना में सन्तोषप्रद को उद्देश्य मानकर चलती है। यह सिद्धान्त कुछ वास्तविक विश्वसनीय स्थिति बतलाने में सहायता देता है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त लाभ की व्यवहार–सम्बन्धी नीति का आधार है।

आलोचना (Criticism)

इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचना यह है कि यह सिद्धान्त अस्पष्ट है। यह स्पष्ट रूप से इस बात की व्याख्या नहीं करता कि सन्तोषप्रद स्तर क्या है तथा असन्तोषप्रद प्राप्ति क्या है। सन्तोषप्रद स्तर को आसानी से निर्धारित नहीं किया जा सकता। सन्तोषप्रद स्तर, व्यक्तियों तथा स्थितियों के आधार पर, कई हो सकते हैं।

सायर्ट तथा मार्च की व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्त
(Cyert and March's Behavioural Theory)

फर्म के व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्त का प्रतिपादन **सायर्ट तथा मार्च ने अपनी पुस्तक** "A Behavioural Theory of the Firm" में किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार फर्म एक बहु–लक्ष्य एवं बहु–निर्णय वाला संगठन है। इसके अन्तर्गत फर्म से सम्बन्धित विभिन्न समूह जैसे मैनेजर, शेयरधारक, श्रमिक, ग्राहक आदि शामिल होते हैं। प्रत्येक समूह का अपना लक्ष्य होता है। शेयरधारक का लक्ष्य अधिक लाभ है, प्रबन्ध का उद्देश्य अधिक वेतन है, श्रमिकों का उद्देश्य अधिक मजदूरी है। ये विभिन्न समूह फर्म के लक्ष्य निर्धारित करते हैं। एक फर्म के वास्तविक लक्ष्य वरिष्ठ प्रबन्धकों द्वारा विभिन्न समूहों से विचार–विमर्श करके निर्धारित किए जाते हैं। ये लक्ष्य कई प्रकार के हो सकते हैं : (i) उत्पादन लक्ष्य, (ii) बिक्री लक्ष्य, (iii) मालसूची लक्ष्य, (iv) लाभ लक्ष्य, (v) बाजार माँग लक्ष्य आदि। यदि ये लक्ष्य प्राप्त नहीं होते तो नए प्रबन्धकों की नियुक्ति की जाती है जो दोबारा लक्ष्यों को निर्धारित करते हैं। वरिष्ठ प्रबन्धक संगठन के ट्रस्टी के रूप में कार्य करते हैं जो केवल शेयर धारकों के प्रति नहीं बल्कि श्रमिकों तथा ग्राहकों के प्रति भी उत्तरदायी होते हैं। ये प्रबन्धक लाभ अधिकतम के स्थान पर सन्तुष्टि अधिकतम के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। संक्षेप में, फर्म का व्यवहार–सम्बन्धी सिद्धान्त सन्तुष्टीकरण को ही फर्म का मुख्य लक्ष्य मानता है।

पूर्ण प्रतियोगीता बाजार
(Perfect Competition Market)

यह बाजार ही वह अवस्था हैं जिसमें अनेक क्रेता तथा विक्रेता होते हैं। सभी उत्पादकों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ समरूप होती है। अर्थात पूर्ण स्पानापन्न होती हैं। इस बाजार में उद्योग में फर्मों को प्रवेश करने तथा छोड़ने की स्वतत्रता होती है। इस बाजार में एक फर्म कि कीमत स्वीकारक होती है बाकि कीमत निर्धारक क्योंकि इस बाजार में कीमत का निर्धारण उद्योग द्वारा किया जाता है और सारे बाजार में वस्तु की एक कीमत का प्रवलन होता है। विक्रय लागतों का इस बाजार में कोई महत्व नहीं होता है। इस बाजार की विशेषताएँ या मान्यताएँ निम्नलिखिति हैं—

(1) अनेक केता तथा विकेता : पूर्ण प्रतियोगी बाजार में वस्तु के बहुत अधिक क्रेता तथा विक्रेता होते हैं। अर्थात कोई भी अकेला क्रेता या विक्रेता अपनी क्रियाओं से बाजार कीमत को प्रभावित नहीं कर सकता है।

(2) समरूप वस्तुएँ : इस बाजार में जो वस्तुँए बेची जाती हैं। वे रंग रूप आकार तथा गुणों में समान होती है। अर्थात एक विक्रेता की वस्तु दूसरे विक्रेता की वस्तु का पूर्ण स्थानापन्व होती है।

(3) फर्मो को उद्योग में प्रवेश करने तथा उद्योग को छोड़ने की स्वतॅनाता : इस बाजार में किसी नई फर्म को उद्योग में प्रवेश करने तथा पुरानी फर्मों को उद्योग छोड़ने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है। जब उद्योग में असमान्य लाभ प्राप्त हो रहे हो तो नई फर्में उद्योग में प्रवेश कर सकती हैं और यदि उद्योग में हावी हो तो पूरानी फर्में उद्योग को छोड़ कर जा सकती है।

(4) कीमत स्वीकार होती है न कि कीमत निर्धारक : इस बाजार में वस्तु की कीमत उद्योग द्वारा निर्धारित होती है। जहाँ बस्तु की माँग तथा पूर्ति आपस में समान होते हैं। प्रत्येक फर्म को उद्योग द्वारा निर्धारित कीमत स्वीकार करनी पड़ती हैं।

(5) पूर्ण ज्ञान : इस बाजार में सभी क्रेताओं तथा विक्रेताओं को वस्तु की कीमत की पूरी अर्थात पूर्ण जानकारी होती है। उनको इस बात का पता होता है कि बाजार के किस भाग में किस कीमत पर वस्तु के सौदे हो रहे हैं।

(6) साधनों में पूर्ण गतिशीलता : पूर्ण प्रतियोगिता में वस्तु बाजार तथा साधान बाजार दोनों में पूर्ण गतिशीलता होती है। अर्थात वस्तुएँ तथा साधन कम मूल्य बाजार से अधिक मूल्य बाजार में जाने के लिए स्वतंत्र होती हैं।

(7) परिवहन तथा विक्रय लागतों का अभाव : इस बाजार की यह मान्यता है कि एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिऐ वस्तु की कोई परिवहन लागत नहीं होती है।

(8) एक कीमत का प्रचलन : इस बाजार में एक समय में एक विशेष वस्तु की सारे बाजार में केवल एक ही कीमत प्रचलीत होती है। अर्थात माँग पूर्णतया लोचदार होती है।

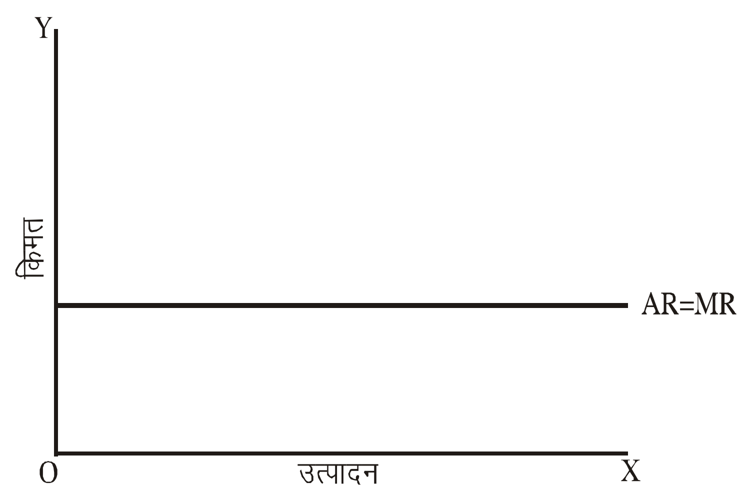

चित्र 5.5

पूर्ण प्रतियोगिता में सन्तुलन

एक फर्म या उत्पादन उस समय सन्तुलन की स्थिति में होती है। जब वह अधिकतम लाभ कमा रहा हो या उसे न्यूनतम हानि हो रही हो। इस स्थिति में न तो फर्म अपने उत्पादन को घटाना चाहती है और न ही उत्पादन की मात्रा में बढ़ाना चाहती हैं।

अल्पकाल में सन्तुलन

अल्पकाल समय की वह अवधि है जिसमें उत्पादन में वद्धि करने के लिए केवल परिवर्तनशील साधनों को ही बदला जाता है। जैसे, श्रम, बिजली, कच्चा माल आदि। परन्तु उस अवधि में स्थिर साधनों जैसे भूमि, मशीनरी, कारखाना, भवन इत्यादि स्थिर रहते हैं। अल्पकाल में न तो कोई नई फर्म उद्योग में प्रवेश कर सकती हैं और ना ही पूरानी फर्म उद्योग को छोड़कर जा सकती हैं। इस अवधि में फर्म उस बिन्दू पर सन्तुलन में होती हैं। जब निम्न दो शर्तें पूरी होती हैं—

1. MC=MR
2. MC वक्र MR वक्र को नीचे से काटती है।

अल्पकाल में फर्म को असामान्य लाभ, सामान्य लाभ तथा हानि भी हो सकती है।

असामान्य लाभ

फर्म को उस समय असामान्य लाभ होंगे जब होगे तब

$$AR > AC$$

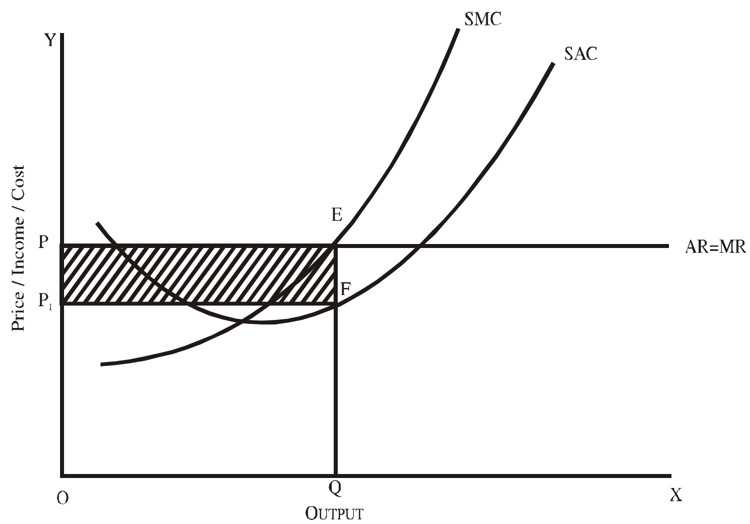

चित्र 5.6

रेखाचित्र में

$$AR = EQ$$
$$AC = FQ$$
$$\therefore \quad AR > AC$$

∴ फर्म को असामान्य लाभ प्राप्त होंगे।

लाभ प्रति इकाई = AR-AC=EQ-FQ=EF

कुल लाभ = लाभ प्रति इकाई x कुल उत्पादन

$$= EF \times OQ$$
$$= EFP_1F$$
$$= PP_1EF$$

रेखाचित्र में स्पष्ट है कि फर्म E बिन्दू पर सन्तुलन में होगी क्योंकि इस बिन्दू पर MC=MR हैं। सन्तुलित कीमत OP निर्धारित होगा। सन्तुलित उत्पादन OQ होगा। तथा फर्म को PP_1 EF समान असामान्य लाभ प्राप्त होंगे।

सामान्य लाभ

फर्क को उस समय अल्पकाल में सामान्य लाभ प्राप्त होंगे जब AR=AC

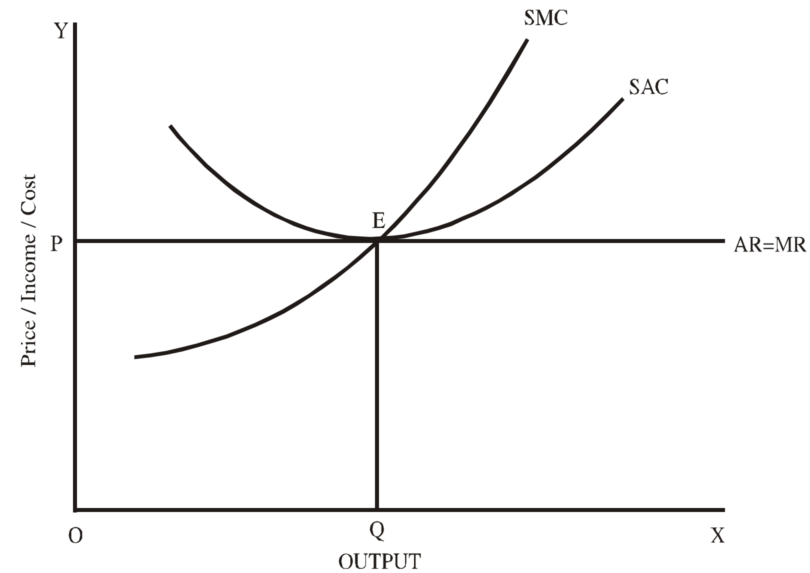

चित्र **5.7**

रेखाचित्र में

$$AR = EQ$$
$$AC = EQ$$
$$\therefore AR = AC$$

$\therefore$ फर्म को सामान्य लाभ प्राप्त होंगे।

रेखाचित्र में स्पष्ट है कि फर्म E बिन्दू पर सन्तुलन में होगी। क्योंकि इस बिन्दू पर MC वक्र MR हैं और MC वक्र MR वक्र को नीचे से काटती है। इस स्थिती में सन्तुलित कीमत OP तथा सन्तुलित उत्पादन OQ किया जायेगा। इस अवस्था में AR=AC है। इसलिये उद्यमी को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होंगे।

न्यूनतम हानि

अल्पकाल में सन्तुलन की अवस्था में फर्म को उस समय न्यूनतम हानि सहन करनी पड़ती है। जब AR < AC

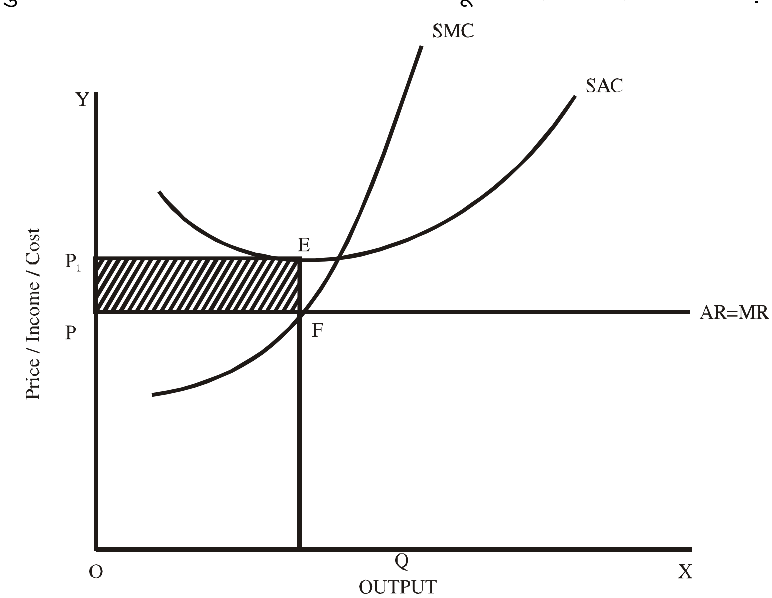

चित्र 5.8

रेखाचित्र में

$$AR = EQ$$
$$AC = FQ$$
$$\therefore \quad AC > AR$$

$\therefore$ फर्म को हानि होगी

हानि प्रति इकाई $= AC - AR$

$= FQ - FQ = EF$

कुल हानि = हानि प्रति इकाई $\times$ कुल उत्पादन

$EF \times OQ$

$EF \times PE = PP_1FF$

फर्म का सन्तुलन E बिन्दू पर सन्तुलन में होगी। क्योंकि इस बिन्दू पर MC=MR और MC वक्र MR को नीचे से काट रही है। सन्तुलीत कीमत OP तथा सन्तुलीत उत्पादन OQ निर्धारित होगी। फर्म को PP_1EF के समान हानि सहन करनी पड़ेगी।

अल्पकाल में उद्योग का सन्तुलन

दी हुई बाजार माँग और दी हुई बाजार पूर्ति की स्थिती में उद्योग उस बिन्दू पर सन्तुलन में होगा जिस बिन्दू पर वस्तु की माँग तथा पूर्ति समान होती है। निम्न रेखाचित्र में $O\overline{P}$ कीमत पर उद्योग सनतुलन में होगा। क्योंकि इस स्थिति में वस्तु की माँग तथा पूर्ति समान है। परन्तु यह अल्पकालीन संतुलन है। यदि इस कीमत पर फर्म को अति अधिक लाभ हो रहा है। या अति अधिक हानि हो रही है तो दीर्घकाल में वे फर्मे जो हानि उठा रही हैं वे अपने उत्पादन को कम या बन्द कर देगी। वे फर्मे जो अधिक लाभ प्राप्त कर रही हैं उत्पादन महत्व बढ़ा देगी तथा साथ–साथ उद्योग में नई फर्में प्रवेश कर जायेगी। इस प्रकार दीर्घकालीन सन्तुलन स्थापित हो जायेगी। जिससे सभी फर्मों को सामान्य लाभ प्राप्त होंगे और इससे न तो नई फर्मे उद्योग में प्रवेश करेगी तथा न ही पूरानी फर्मे उद्योग छोड़कर जायेगी। अल्पकाल में उद्योग के सन्तुलन की स्थिति को निम्न रूप से दर्शाया जा सकता है।

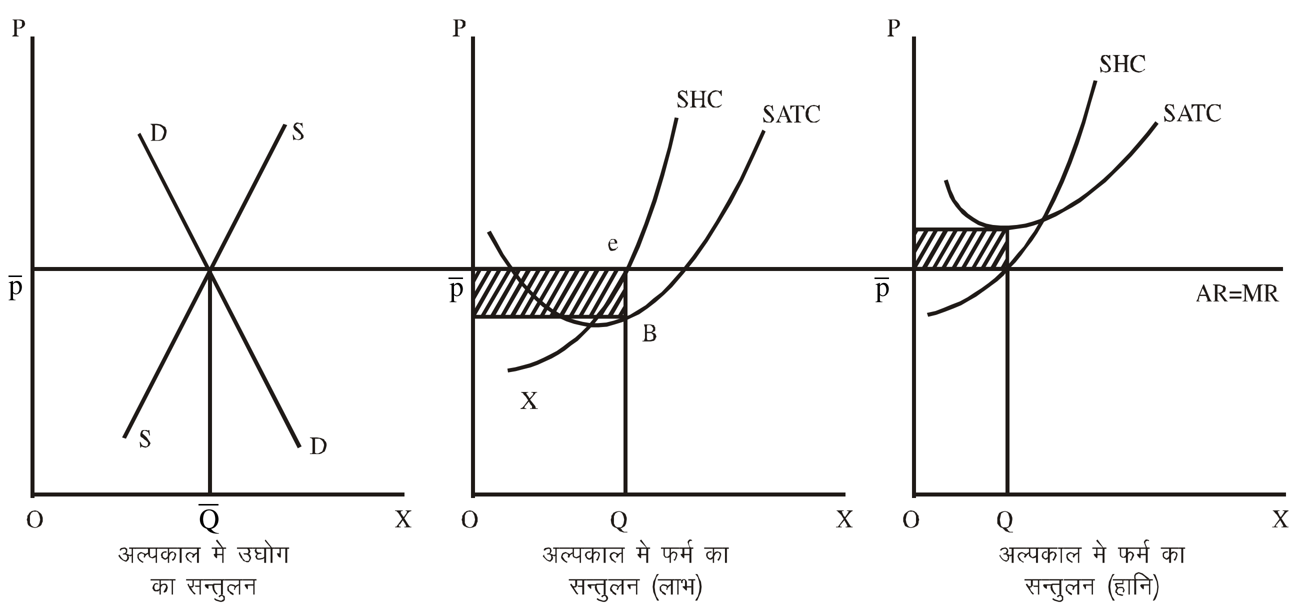

(a) (b) (c)

चित्र 5.9

दीर्घकाल मे फर्म का सन्तुलन

दीर्घकाल समय की वह अवधि होती है जिससे उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं। पूर्ति को माँग के अनुसार घटाया–बढ़ाया जा सकता है। उद्योग की वर्तमान फर्में अपने प्लॉट के आकार को छोटा या बड़ा कर सकती है। दीर्घकाल में फर्में उसी स्थिति में सन्तुलन में होती है जिसमे MR=MC होती है और MC वक्र MR वक्र को नीचे से काट रही है। परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता में दीर्घकाल में उद्योग की सभी फर्में सामान लाभ ही प्राप्त कर सकती हैं।

दीर्घकाल में फर्में उस समय सन्तुलन में होती हैं। जब दीर्घकालीन AC वक्र के न्यूनतम बिन्दू पर उत्पादन करने के लिए अपने प्लॉट को समायोजित कर लेती हैं। दीर्घकाल में फर्म केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त कर सकती है। जो LMC मे शामिल होता है।

यदि फर्में असामान्य लाभ प्राप्त कर रही हैं तो नई फर्में प्रवेश करेंगी जिसके कारण कीमत कम हो जायेगी और लागत वक्र ऊपर की ओर बढ़ेगा क्योंकि उत्पादन के साधनों की कीमत बढनी आरम्भ हो जायगी। जैसे–जैसे उद्योग का विस्तार होगा ये परिवर्तन तब तक जारी रहेंगे जब तक LAC बाजार कीमत द्वारा परिभाषित माँग वक्र को नहीं छूती हैं। यदि दीर्घकाल में फर्म को हानि हो रही है तो कुछ फर्में उद्योग को छोड़ जायेगी। जिससे कीमतें बढेंगी तथा लागत कम हो जायेगी। जैसे–जैसे उद्योग का संकुचन होता है। इसलिए दीर्घकाल में प्रत्येक फर्म को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होगे।

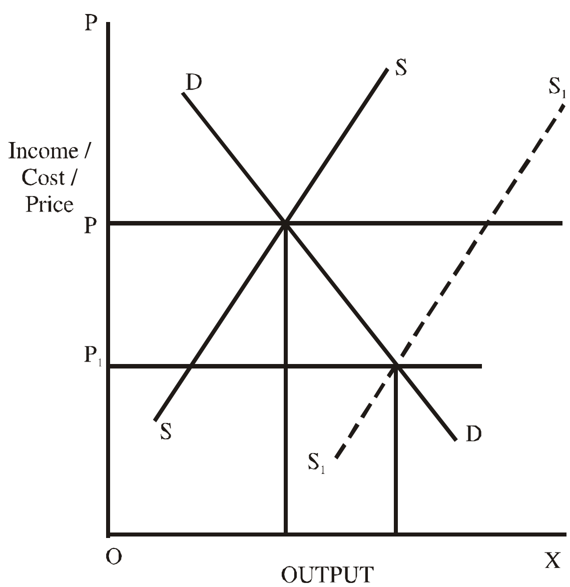

चित्र 5.10

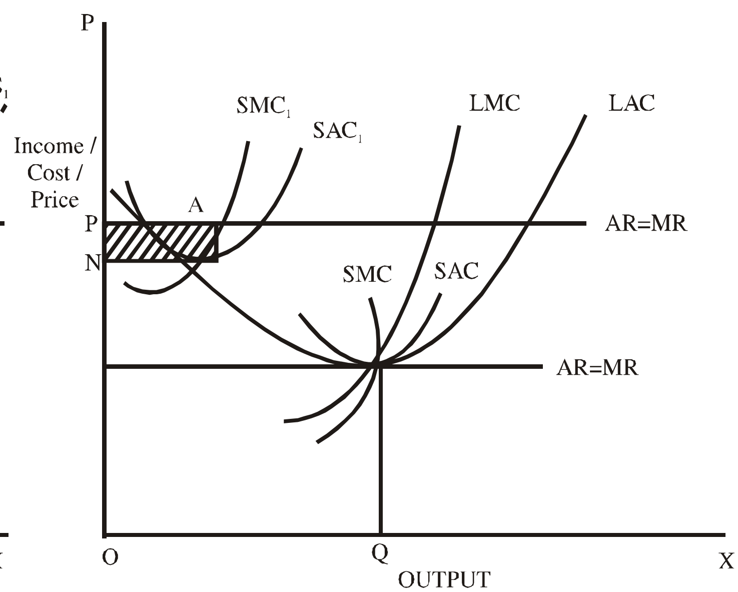

चित्र 5.11

रेखाचित्र में स्पष्ट है कि यदि कीमत OP है तो वह फर्म जिसकी लागतों को SAC_1, SMC_1 द्वारा दर्शाया गया है। फर्म असामान्य लाभ प्राप्त कर रही है। यह फर्में लाभ कमाने के लिये अपनी उत्पादन क्षमता को बढ़ाने का यत्न करेंगी और यह LAC पर खिसकना आरम्भ कर करेगी। इसके साथ–साथ कई फर्में उद्योग में प्रवेश करेगी और इस प्रकार बाजार में पूर्ति वक्र खिसक कर S से S_1 हो जायेगी। जब तक कीमत OP से कम होकर OP_1 नहीं हो जाती है।

दीर्घकालीन सन्तुलन के लिये फर्म की दीर्घकालीन सीमान्त लागत कीमत के सामन होनी चाहिए। तथा दीर्घकालीन औसत लागत के सामन होनी चाहिए

$$LMC = LAC = P$$

दीर्घकाल में फर्में अपने प्लाँट के आकार को उत्पादन के उस स्तर तक समायोजित करेंगी जिस पर दी हुई उत्पादन तकनीक और दी हुई उत्पादन साधनों की कीमतों पर LAC न्यूनतम हो सके। अतः दीर्घकाल में सन्तुलित फर्म के लिये निम्न शेर्ते होगी। इस स्थिती में फर्म अपना आदर्श उत्पादन करेगी और LAC तथा SAC न्यूनतम होते है।

$$SMC = LMC = LAC = LMC = P = MR$$

दीर्घकाल में उद्योग का सन्तुलन

दीर्घकाल में उद्योग का सनतुलन उस कीमत पर होता है। जब उद्योग में शामिल सभी फर्में सन्तुलन में होती हैं। और वे न्यूनतम LAC पर उत्पादन करती हैं और उन्हें केवल सामान्य लाभ प्राप्त होते है। इस स्थिती में उद्योग में न तो नई फर्मे उद्योग में प्रवेश करती हैं तथा न ही पूरानी फर्में उद्योग को छोड़ती हैं। उद्योग के सन्तुलन को निम्न रेखाचित्र में दर्शाया गया हैं।

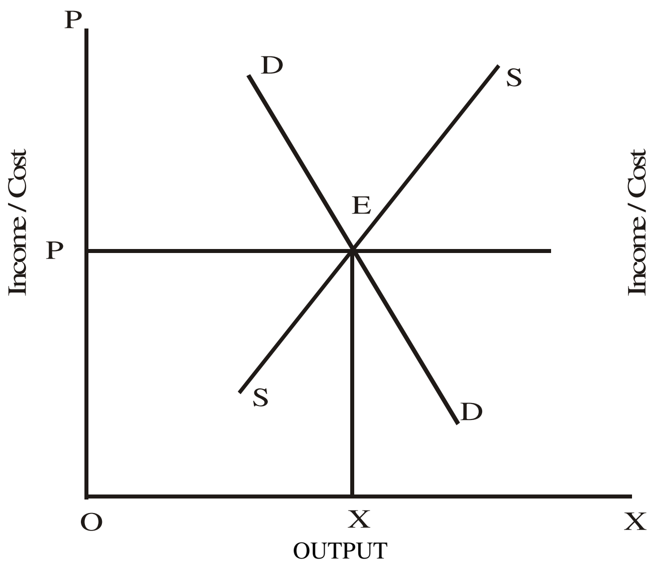

चित्र 5.12

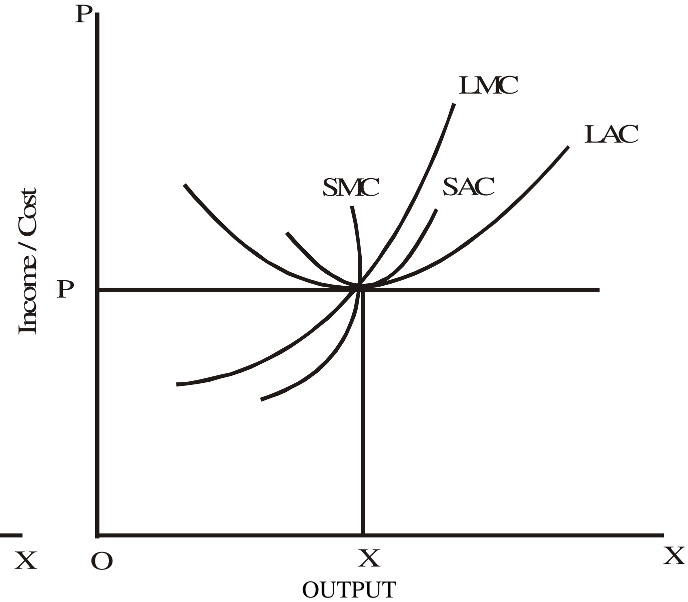

चित्र 5.13

रेखाचित्र में स्पष्ट है कि बाजार कीमत OP है तो प्रत्येक फर्म न्यूनतम लागतो पर उत्पादन करती हैं और उन्हें केवल सामान्य लाभ प्राप्त होते हैं। फर्म उत्पादन के OX स्तर पर सन्तुलन में होगी और निम्न अवस्था में फर्म को अधिकतम लाभ प्राप्त होते हैं।

LMC=SMC=P=MR

सभी फर्मों को इस स्थिती में केवल सामान्य लाभ प्राप्त होते हैं। इसलिये न तो काई फर्म उद्योग में प्रवेश करेंगी तथा न होई फर्म उद्योग को छोड़कर आयेगी। अर्थात उद्योग में पूर्ण सन्तुलन में होता हैं क्योंकि निम्न शर्तें पूरी होती हैं।

LAC=SAC=P

अर्थात उद्योग OP कीमत पर सन्तुलन में होता है। जब सभी फर्मों को केवल सामान्य लाभ प्राप्त हो रहे हो। इस स्थिती में ना तो कोई नई फर्म उद्योग में प्रवेश करती और ना ही कोई पूरानी फर्म उद्योग को छोड़ना चाहती हैं।

अल्पकालीन पूर्ति चक्र
(Short Run Supply Curve)

1. फर्म का अल्पकालीन पूर्तिवक्र : अल्पकाल समय की वह अवधि है जिसमे फर्म केवल घटते बढ़ते साधनों में परिवर्तन करके पूर्ति में परिवर्तन कर सकती है। फर्म के पास इतना समय नही होता कि वह बन्धे साधनों में भी परिवर्तन कर सके। इसलिए अल्पकाल में यदि फर्म थोड़े समय के लिए भी उत्पादन करना बन्द कर भी दे तो भी बन्धी लागत का व्यय उठाना ही पड़ेगा। अतएव अल्पकाल में यदि कीमत औसत घटती–बढ़ती लागत के बराबर भी है तो फर्म वस्तु की पूर्ति करती रहेगी। अतएव एक फर्म उस समय तक एक वस्तु की पूर्ति करती रहेगी जब तक एक अतिरिक्त इकाई की सीमान्त लागत उस इकाई की औसत कीमत के बराबर नहीं हो जाती है।

पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में फर्म के उत्पादन की कीमत (AR) तथा सीमान्त आय (MR) बराबर होते हैं। इसलिये फर्म उस सीमा तक उत्पादन करती रहेगी जब तक सीमान्त आय (MR) तथा सीमान्त लागत (MC) बराबर नही हो जाती है।

चित्र 5.14

रेखाचित्र मे MC सीमान्त लागत वक्र, AC औसत लागत वक्र तथा ACV औसत घटती–बढ़ती लागत वक्र है। फर्म OP कीमत से कम कीमत पर कोई पूर्ति नहीं करेगी क्योंकि OP कीमत से कम पर फर्म को औसत घटती–बढती लागत की भी हानि होगी। OP कीमत पर OG वस्तुओं की पूर्ति करेगी। सन्तुलन E बिन्दू पर होगा। अतएव फर्म का अल्पकालीन पूर्ति वक्र बिन्दू E से आरम्भ होने वाला सीमांत लागत (MC) वक्र होगा।

उद्योग का अल्पकालीन पूर्ति वक्र

इस उद्योग का पूर्ति वक्र उस उद्योग की सब फर्मों के पूर्ति वक्रों का समस्तर जोड़ होता है। उसे निम्न रेखाचित्र में दर्शाया गया हैं।

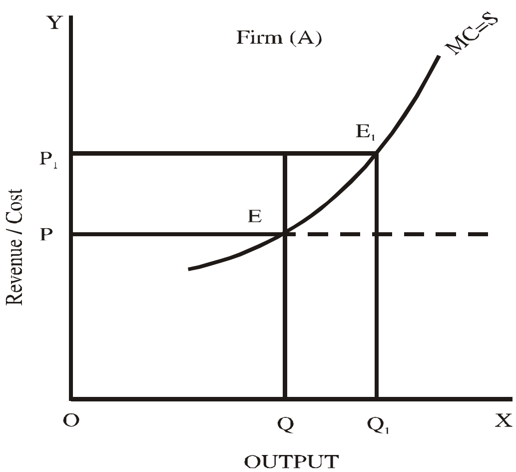

चित्र 5.15

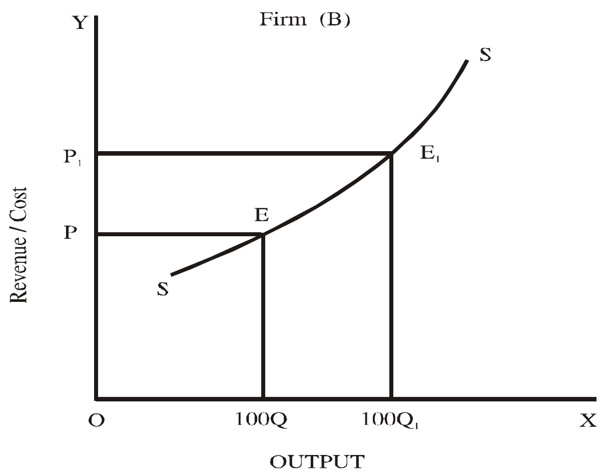

चित्र 5.16

मान लीजिए उद्योग में 100 समरूप फर्में हैं। उनमें से प्रत्येक एक निश्चित कीमत OP पर समान मात्रा OQ का उत्पादन कर रही हैं। अतएव OP कीमत पर उद्योग की पूर्ति 100xQ=100Q होगी। उत्पादन की यह मात्रा सभी फर्मों के कुल उत्पादन का जोड़ है। इसी प्रकार OP_1 कीमत पर उद्योग की सभी फर्में $100Q_1$ मात्रा का उत्पादन करेगी। इन मात्राओं को उद्योग की पूर्ति कहा जायेगा। SS वक्र उद्योग का प्रर्ति वक्र है।

वक्र के E बिन्दू से ज्ञात होता है कि जब कीमत OP है तो उद्योग की कुल पुर्ति 100xQ=100Q होगा। OP_1 कीमत पर जब फर्म की पूर्ति OQ_1 होगी तो उद्योग की पूर्ति जैसा कि बिन्दू E_1 से ज्ञात होता है। बिन्दू E तथा E_1 आदि को मिलाने से उद्योग का पूर्ति वक्र ज्ञात हो सकती है।

दीर्घकालीन पूर्ति वक्र

1. फर्म का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र : दीर्घकाल में फर्म केवल न्यूनतम औसत लागत पर ही उत्पादन करेगी। इस अवस्था में सीमान्त लागत, सीमान्त आय तथा औसत आय भी न्यूनतम औसत लागत के बराबर होगी अर्थात

LMC=MR=LAC=AR

फर्म को सामान्य लाभ प्राप्त होंगे। इसलिये सीमान्त लगाव का यह विशेष बिन्दू ही दीर्घकाल में फर्म की पूर्ति निर्धारित करेगा जिस पर वह न्यूनतम औसत लागत के बराबर होगा। इस सन्तुलन बिन्दू को द्वष्टतम उत्पादन का बिन्दू कहा जायेगा। अतएव एक फर्म का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र सीमान्त लागत वक्र का वह भाग है जो न्यूनतम औसत लागत से शुरू होता है।

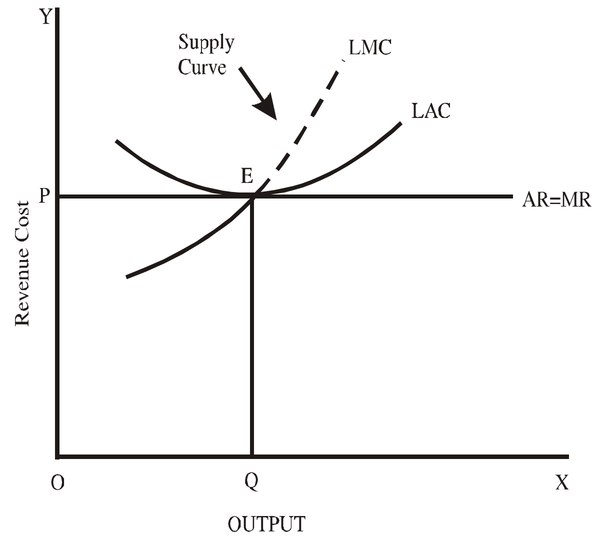

चित्र 5.17

उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र : दीर्घकाल में एक उद्योग का पूर्ति वक्र फर्मों की दीर्घकालीन पूर्ति द्वारा ही निर्धारित किया जाता है। परन्तु उद्योग का दीर्घकालीन पुर्ति वक्र अल्पकाल की तरह फर्मों के पूर्ति वक्रों का समस्तर जोड़ नही होता है। उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र फर्म के द्वष्टतम आकार में होने वाले परिवर्तन तथा फर्मों की संख्या में होने वाले परिवर्तन पर निर्भर करता है। इसके दो कारण हैं—

(i) दीर्घकाल में उद्योग में फर्मो का प्रवेश तथा छोड़ना जारी रहता है।

(ii) फर्मों को पैमाने की बचतें तथा हानियाँ भी उठानी पड़ती हैं।

इसीलिये फर्मों की दीर्घकालीन सीमान्त लागत वक्र (LMC) अपने स्थान से हिल जाती है। इन्ही कारणों से उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र कर्मो के पूर्ति वक्रों का समस्तर जोड़ नही होता। वास्तव में उद्योग का दीर्घकालीन पूर्ति वक्र एक फर्म के दीर्घकालीन इण्टतम उत्पादन तथा उद्योग में फर्मों की संख्या को गुणा करके ज्ञात किया जाता है। अर्थात्

S = Q X N
S = Long gun supply of industry
Q = Optimum output of a firm
N = Number of firms

एकाधिकार
(Monopoly)

एकाधिकार बाजार की वह अवस्था है। जिसमें किसी वस्तु का अकेला विक्रेता या उत्पादक होता है। उसके द्वारा उत्पादित वस्तु के बाजार में निकटतम स्थानापन्न नहीं होते हैं। एकाधिकारी का वस्तु की पूर्ति पर पूरा नियन्त्रण होता है और इस बाजार में नई फर्मों के प्रवेश पर कठोर प्रतिबन्ध होते हैं। एकाधिकारी फर्म कीमत निर्धारक होती है बाकि कीमत स्वीकारक। एकाधिकारी फर्म माँग की लोच के आधार पर कीमत विभेद की नीति अपना सकती हैं। इस बाजार में माँग वक्र कम लोचदार होती है। जैसे भारतीय रेलवे, हरियाणा तथा अन्य राज्यों के बिजली बोर्ड, एकाधिकारी के उदाहरण हैं।

मुख्य विशेषताएँ

(1) अकेला विक्रेता या उत्पादक : एकाधिकारी में वस्तु का विक्रेता या उत्पादक एक ही होता है और बाजार में उसका कोई प्रतियोगी नहीं होता है। एकाधिकारी अकेला उद्यमी या एक फर्म या संयुक्त पूंजी कम्पनी भी हो सकती है।

(2) निकटतम स्थानापन्न नहीं : एकाधिकारी जिस वस्तु का उत्पादन या विक्रय करता है। उस वस्तु का कोई निकटतम स्थानापन्न उपलब्ध नहीं होता है। अर्थात एकाधिकार में माँग की तिरछी लोच होती है।

(3) फर्म तथा उद्योग में अन्तर नहीं : एकाधिकार में क्योंकि एक फर्म होती हैं। इसलिये फर्म तथा उद्योग का अन्तर समाप्त हो जाता है।

(4) एकाधिकारी फर्म कीमत निर्धारक होती हैं ना कि कीमत स्वीकारक : एकाधिकारी स्वतन्त्र कीमत नीति अपना सकता है। अर्थात वह अपनी इच्छानुसार कीमत में कमी या वद्धि कर सकता है।

(6) फर्म के बाजार में प्रवेश पर कठोर प्रतिबन्ध : एकाधिकार में बाजार में फर्मों के प्रवेश पर कई कठोर प्रतिबन्ध होते हैं। इसलिये एकाधिकारी का कोई प्रतियोगी नहीं होता है।

(7) कीमत विभेद की नीति— कई बार एकाधिकारी अधिकतम लाभ कमाने के लिये अपनी वस्तु की विभिन्न बाजारों में विभिन्न कीमतें ले सकता है। जिस बाजार में माँग वक्र कम लोचदार होती है। एकाधिकारी अधिक कीमत ले सकता है। इसके विपरीत जिस बाजार में माँग अधिक लोचदार होती है। एकाधिकारी कम कीमत ले सकता है।

(8) पूर्ति पर पूरा नियन्त्रण : एकाधिकारी फर्म का वस्तु की पूर्ति पर पूरा नियन्त्रण होता है।

(9) कमलोचदार माँग : एकाधिकार में माँग वक्र कम लोचदार होती है। अर्थात AR और MR वक्र ऊपर से नीचे की ओर आते हैं।

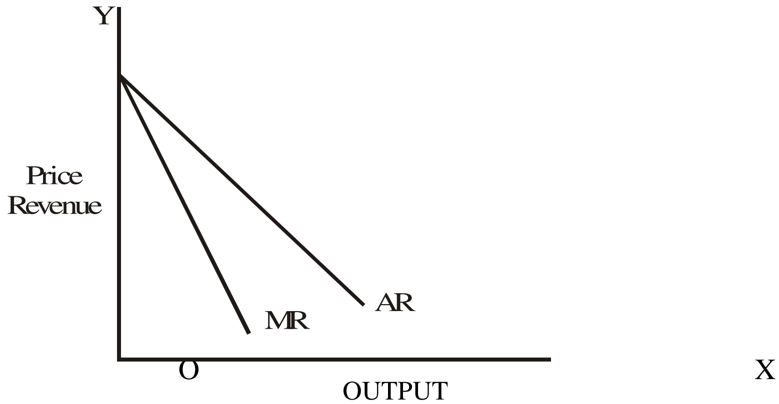

चित्र 5.18

एकाधिकार बाजार में कीमत तथा उत्पादन निर्धारण

एकाधिकारी फर्म सन्तुलित कीमत तथा सन्तुलित उत्पादन का निर्धारण उस अवस्था में करती है। जब निम्न दो शर्तें पूरी होती हैं—

(1) MC = MR

(2) MC वक्र MR वक्र को नीचे से काटती हैं।

अल्पकाल में कीमत तथा उत्पादन का निर्धारण

अल्पकाल समय की वह अवधि हैं। जिसमें एकाधिकारी फर्म केवल घटते—बढ़ते उत्पादन के साधनों में परिवर्तन करके ही उत्पादन को बदल सकती हैं। परन्तु बँधे साधन जैसे, मशीनरी, प्लॉट, इत्यादि में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

सन्तुलन की अवस्था में अल्पकाल में एकाधिकारी फर्म को उत्पादन करने में असामान्य लाभ, सामान्य लाभ या न्यूनतम हानियाँ भी हो सकती हैं।

असामान्य लाभ

एकाधिकारी को सन्तुलन की अवस्था में उस समय असामान्य लाभ प्राप्त होते हैं जब AR>AC

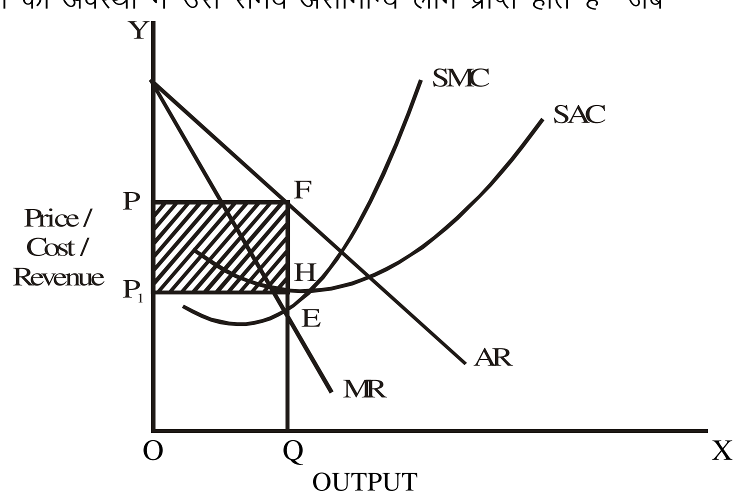

चित्र 5.19

जहाँ SMC= Short-run marginal Cost
SAC = Short-run Average Cost
MR = Marginal Revenue
AR= Average Revenue

रेखाचित्र में

AR= FQ
AC=HQ
∴ AR>AC

∴ एकाधिकारी फर्म को असामान्य लाभ प्राप्त होंगे।

लाभ प्रति इकाई = AR-AC
= FQ-HQ
= FH

कुल लाभ = लाभ प्रति ईकाई × कुल उत्पादन
= FH × OQ
= $FH \times P_1H$
= PP_1 HF

रेखाचित्र में स्पष्ट हैं कि एकाधिकारी E बिन्दू पर सन्तुलन में हैं। क्योंकि इस बिन्दू पर MC=MR और MC वक्र MR वक्र को नीचे से काट रही है। सन्तुलित कीमत OP निर्धारित होगी और सन्तुलित उत्पादन OQ किया जायेगा। इस अवस्था में फर्म को PP_1 HF के समान असामान्य लाभ होंगे।

सामान्य लाभ

एकाधिकारी फर्म को सन्तुलन की अवस्था में इस समय सामान्य लाभ प्राप्त होंगे।

जब AR=AC

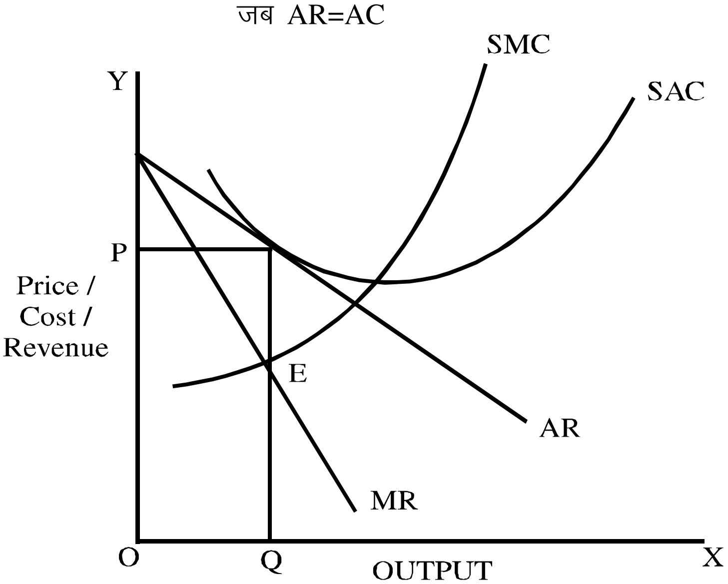

चित्र 5.20

रेखाचित्र में AR = FQ
AC = FQ
∴ AR = AC
∴ फार्म को सामान्य लाभ प्राप्त होगे

रेखाचित्र में स्पष्ट हैं कि एकाधिकारी फर्म E बिन्दू पर सन्तुलन में होगी क्योंकि इस बिन्दू पर MC=MR हैं और MC वक्र MR वक्र को नीचे से काटती है। सन्तुलित कीमत OP निर्धारित होगी और सन्तुलित उत्पादन OQ किया जायेगा। इस अवस्था एकाधिकारी को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होंगे।

क्योंकि AC=AR हैं।

न्यूनतम हानि

अल्पकाल में एकाधिकारी को कई बार मन्दी आदि की अवस्था में हानि भी उठानी पड़ सकती हैं। यह स्थिती उस समय उत्पन्न होती है। जब वस्तु की कीमत कम होने के कारण

AR<AC

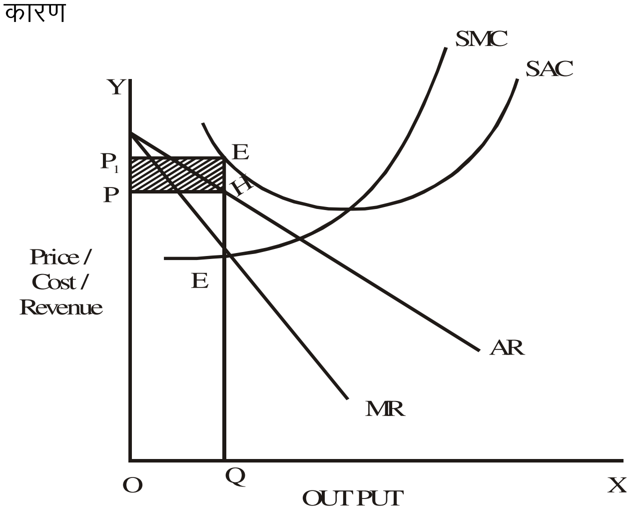

चित्र 5.21

रेखाचित्र में AR = HQ

AC=FQ

∴ AR<AC

∴ फर्म को हानि होगी

हानि प्रति इकाई = AC–AR

= FQ–HQ=FH

कुल हानि = हानि प्रति इकाई × कुल उत्पादन

= FH × OQ

= FH × PH

= PP_1 FH

रेखाचित्र में स्पष्ट है कि एकाधिकारी फर्म E बिन्दू पर सन्तुलन में होगी। क्योंकि MC=MR हैं तथा MC वक्र MR वक्र को नीचे से काट रही हैं। इस अवस्था में सन्तुलीत कीमत OP निर्धारित होगी तथा सन्तुलीत उत्पादन OQ किया जायेगा। एकाधिकारी फर्म को इस अवस्था में PP_1FH के समान हानि सहन करनी पड़ेगी।

दीर्घकाल में कीमत तथा उत्पादन का निर्धारण

दीर्घकाल समय की वह अवधि होती है। जिसमें उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं और एकाधिकारी वस्तु की पूर्ति में माँग के अनुसार परिवर्तन कर सकता है। दीर्घकाल में भी सामान्यत एकाधिकारी फर्म की औसत आय फर्म की औसत लागत से अधिक होती है और नई फर्मों के प्रवेश पर कई प्रकार के प्रतिबन्ध होते हैं। प्रतिबन्ध होने के कारण एकाधिकारी फर्म को दीर्घकाल में भी असामान्य लाभ प्राप्त होते हैं।

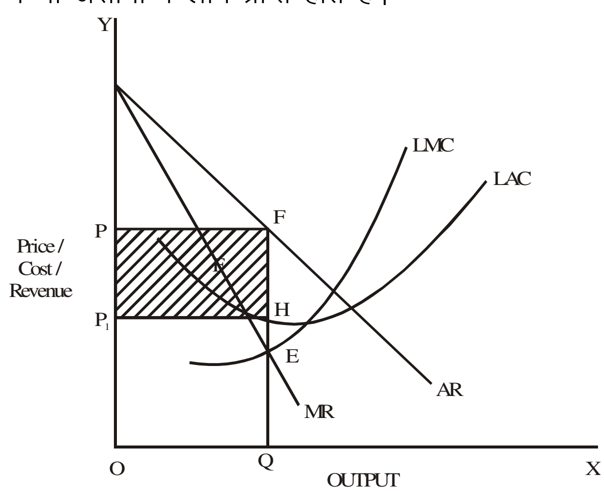

चित्र 5.22

जहाँ

LMC = Long-run merginal cost

LAC= Longe-run averge cost

रेखाचित्र में

$$AR = FQ$$

$$AC = AQ$$

$$\therefore \quad AR > AC$$

∴ फर्म को असामान्य लाभ प्राप्त होंगे

लाभ प्रति इकाई = AR-AC

=FQ-HQ

=FH

कुल लाभ = लाभ प्रति इकाई × कुल उत्पादन

$= FH \times OQ$

$= FH \times P_1H$

$= PP_1\ HF$

रेखाचित्र में स्पष्ट है कि एकाधिकारी फर्म दीर्घकाल में E बिन्दू पर सन्तुलन में होंगी। ताकि इस बिन्दू पर LMC=MR है तथा LMC, MR बक्र को नीचे से काट रही हैं। सन्तुलीत कीमत OP तथा सन्तुलीत उत्पादन Og निर्धारित होते हैं। दीर्घकाल में एकाधिकारी फर्म को PP_1HF के समान असामान्य लाभ प्राप्त होगे।

कीमत विभेदीकरण
(Price Discrimination)

कीमत विभेद का अर्थ– जब एकाधिकारी अपनी वस्तु के लिये भिन्न–भिन्न क्रेताओं से भिन्न–भिन्न कीमतें लेता है। तो उसे कीमत विभेद या विभेदात्मक एकाधिकार कहते हैं जैसे हरियाणा बिजली बोर्ड, घरेलू उपयोग के लिए बिजली की दर अधिक वसूल करता है तथा उद्योगों के लिए बिजली की प्रति ईकाई कम दर पर वसूल करता है। अर्थात कीमत विभेद वह स्थिती होती है जिसमें एक वसतु विभिन्न खरीददारों को विभिन्न कीमतों पर बेची जाती हैं।

प्रो० स्टिगलर के अनुसार ''कीमत विभेदीकरण का अर्थ हैं कि तकनीकी दष्टि से समरूप पदार्थो को इतनी भिन्न–भिन्न कीमतों पर बेचना जो उनकी सीमान्त लागतों के अनुपात से कही अधिक हैं''

कीमत विभेद के प्रकार

(a) व्यक्तिगत कीमत विभेद : जब एक एकाधिकारी अपनी वस्तु की विभिन्न व्यक्तियों से विभिन्न कीमतें लेता है। उसे व्यक्तिगत कीमत विभेद कहते हैं। जैसे वकील द्वारा अमीर व्यक्तियों से अधिक फीस तथा गरीब व्यक्तियों से कम फीस लेना व्यक्तिगत कीमत विभेद का उदाहरण हैं।

(b) भौगोलिक कीमत विभेदः जब एकाधिकारी फर्म घरेलू बाजार में वस्तु की ऊची कीमत और विदेशी बाजार में कम कीमत लेती हैं तो यह भौगोलिक कीमत लेती हैं तो यह भौगोलिक कीमत विभेद का उदाहरण हैं।

(c) उपयोग कीमत विभेदः जब एकाधिकारी फर्म एक वस्तु के विभिन्न उपयोगों के लिये विभिन्न कीमतें लेती हैं। जैसे घरेलू उपयोग के लिए बिजली की प्रति इकाई कीमत तथा कषि व उद्योगों में उपयोग के लिये बिजली की प्रति इकाई कम कीमत ली जाती है। यह उपयोग कीमत विभेद है।

(d) समयानुसार कीमत विभेद : जब एकाधिकारी फर्म एक जैसी सेवा के लिये अलग–अलग समय पर अलग–अलग कीमत लेती है। जैसे ट्रनकॉल के रेट (कीमत) दिन में ऊँचे तथा शत में नीचे होते हैं।

कीमत विभेद की शर्तें या कीमत विभेद कब सम्भव होता है

(1) लोचशीलता में अन्तर : कीमत विभेद तभी सम्भव हैं। जब एकाधिकारी के लिये भिन्न–भिन्न बाजारों में माँग की लोच भिन्न–भिन्न होती है। प्रायः जिस बाजार में माँग कम लोचदार होती है। वहाँ एकाधिकारी अधिक कीमत तथा जिस बाजार में माँग की लोच अधिक होती हैं। वहाँ एकाधिकारी कम कीमतें लेता हैं।

(2) वस्तु की एक बाजार से दूसरे बाजार में बिक्री का न होना– कीमत विभेद के लिये एक अनिवार्य शर्त यह भी है कि सस्ते बाजार के ग्राहक उस बाजार से वस्तु खरीदकर महँगे बाजार में न बेच सके। यदि वस्तु का एक बाजार से दूसरे बाजार में हस्ताँतरण होता है तो कीमत विभेद सम्भव नही होगा।

(3) सरकारी स्वीकति : कई बार एकाधिकारी सरकार की तरफ से एक वस्तु के लिये विभिन्न कीमत वसूल करने की स्वीकति ले लेता है। जैसे भारतीय रेलवे या हरियाणा बिजली बोर्ड में कीमत विभेद के लिये सरकारी स्वीकति प्राप्त है।

(4) वस्तु विभेद : एकाधिकारी वस्तु की विभिन्न पैंकिंग, लेबल, नाम आदि बदल कर कीमत विभेद करता है। वह क्रेताओं को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न करता है कि वस्तु की एक किस्म से दूसरी किस्म में अच्छी Quality है।

कीमत विभेद की श्रेणी

प्रो० पीगू ने कीमत विभेद की तीन श्रेणीयाँ बताई हैं–

(1) प्रथम श्रेणी कीमत विभेद : इसमे एकाधिकारी विभिन्न क्रेताओं की कीमत वसूल करता है और इस प्रकार एकाधिकारी प्रत्येक उपभोक्ता से सम्पूर्ण बचत खींच लेता हैं।

(2) द्वितीय श्रेणी कीमत विभेद : इसमें एकाधिकारी इस प्रकार से विभिन्न क्रेताओं से कीमत वसूल करता है कि वह उनकी सम्पूर्ण उपभोक्ता की बचत तो नहीं किन्तु उसका एक हिस्सा प्राप्त कर लेता है। भारतीय रेलवे इसी सिद्धांत पर विभिन्न श्रेणीयों के यात्रियो से विभिन्न किराया वसूल करता है।

(3) ततीय श्रेणी कीमत विभेद : इसके एकाधिकारी माँग की लोच के आधार पर अपने क्रेताओं को दो या दो से अधिक समूहों में बाँट देता है। जिस बाजार में माँग कम लोचदार होती है। वहाँ अधिक कीमत तथा जिस बाजार में मांग अधिक लोचदार होती है। वहाँ कम कीमत वसूल की जाती है।

विभेदात्मक एकाधिकार से कीमत तथा उत्पादन का निर्धारण

विभेदात्मक एकाधिकार से कीमत तथा उत्पादन का निर्धारण अधिकतम लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से किया जाता है। कीमत तथा उत्पादन का निर्धारण करते समय एक एकाधिकारी को दो निर्णय लेने पड़ते हैं–

(1) वस्तु का कुल उत्पादन कितना किया जाये।

(2) कुल उत्पादन का कितना–कितना भाग विभिन्न बाजारों में कितनी–कितनी किमतों पर बेचा जाये।

सबसे पहले एकाधिकारी समस्त बाजार को लोचशीलता के आधार पर अलग–अलग भागों में बाटँता है। एकाधिकारी वस्तु का उत्पादन निर्धारण वहाँ करेगा जिस बिन्दू पर दोनों बाजारों की कुल सीमान्त आय, सीमान्त लागत के बराबर हो जाये। अर्थात

$$\sum MR = MC$$

$$MR_A + MR_B = MC$$

विभिन्न बाजारों में वस्तु की कीमत का निर्धारण माँग की लोच के आधार पर किया जाता है। अधिक लोचदार माँग वाले बाजार में वस्तु की कम कीमत और कम लोचदार माँग वाले बाजार में वस्तु की अधिक कीमत निर्धारित की जाती है।

इसे निम्न रेखाचित्र की सहायता से दिखाया जा सकता है।

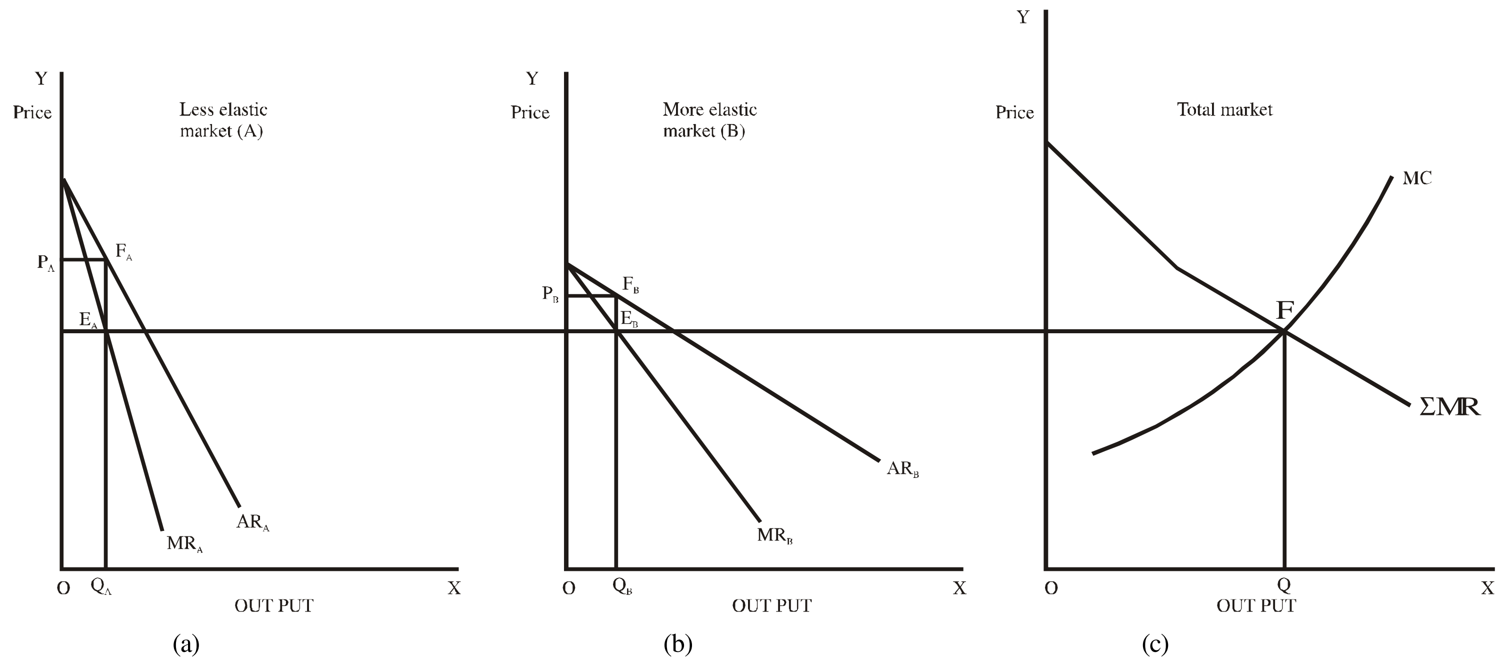
Y
Price
Less elastic
market (A)
P_A
F_A
E_A
MR_A
AR_A
O
Q_A
OUT PUT
X
(a)
Y
Price
More elastic
market (B)
P_B
F_B
E_B
MR_B
AR_B
O
Q_B
OUT PUT
X
(b)
Y
Price
Total market
MC
F
ΣMR
O
Q
OUT PUT
X
(c)

चित्र 5.23

रेखाचित्र में

OP_A (कम लोचदार बाजार में किमत) > OP_B (अधिक लोचदार बाजार में कीमत)

OQ_A (कम लोचदार बाजार में उत्पादन)< OP_B (अधिक लोचदार बाजार में उत्पादन)

रेखाचित्र में स्पष्ट है कि बाजार A कम लोचदार तथा बाजार B अधिक लोचदार बाजार है। एकाधिकारी कुल उत्पादन OQ के समान करता है। और वह इनमें से कम लोचदार बाजार में कम उत्पादन और अधिक लोचदार बाजार में अधिक उत्पादन का विक्रय करता है। परन्तु एकाधिकारी कम लोचदार बाजार में ऊची कीमत OP_A तथा अधिक लोचदार बाजार में अधिक किमत OP_B लेता है।

क्या कीमत विभेद समाज के लिये हानिकारक होता है या लाभदायक

कुछ अवस्थाओं में कीमत विभेद समाज के लिये लाभदायक और कुछ अवस्थाओं में कीमत विभेद समाज के लिये हानिकारक हैं।

कीमत विभेद समाज के लिये लाभदायक

इसके लिये निम्न अवस्थाएँ हैं–

(1) यदि कीमत विभेद के कारण किसी वस्तु की कीमत निर्धन वर्ग के लिये नीची रखी जाये और अमीर वर्ग के लिये ऊँची कीमत रखी जाये तो ऐसी अवस्था में कीमत विभेद समाज के लिये लाभदायक होता है।

(2) बहुत–सी जनसाधारण सेवायें ऐसी होती हैं। जो कीमत विभेद की नीति के बिना साधारण लोगों को प्राप्त नहीं होती हैं। जैसे रेलवे सेवा, डॉक्टर की सेवायें आदि।

(3) यदि कीमत विभेद के अर्न्तगत एकाधिकारी अपनी उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग करके उत्पादन में वद्धि करता हैं। तो रोजगार में वद्धि होगी। जिससे कीमत विभेद समाज के लिये लाभदायक होगा।

कीमत विभेद समाज के लिये हानिकारक

निम्न परिस्थितीयों में कीमत विभेद समाज के लिये हानिकारक होता है।

(1) यदि कीमत विभेद के कारण गरीबों को ऊँची किमतें देनी पड़ती है। तो कीमत विभेद समाज के लिये हानिकारक हैं।

(2) यदि राशिपातन की नीति के कारण एकाधिकारी घरेलू बाजार में ऊंची कीमत लेता है और विदेशी बाजार में कम कीमत लेता है तो कीमत विभेद समाज के लिये हानिकारक होगा।

(3) जब एकाधिकारी जान बुझकर (सोच–समझकर) अपने लाभ अधिकतम करने के लिये वस्तु का उत्पादन कम करता है और कीमत बहुत ऊँची वसूल करता है तो कीमत विभेद हानिकारक होता है।

एकाधिकार तथा पूर्ण प्रतियोगिता में तुलना

(Comparison between Monopoly and Perfect Competition)

एकाधिकार तथा पूर्ण प्रतियोगिता बाजारों की तुलना निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर की जा सकती हैं–

(1) उत्पादन सम्बन्धी तुलना : दीर्घकालीन संतुलन की दशा में पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में एकाधिकार की तुलना में उत्पादन अधिक होता है। पूर्ण प्रतियोगीता की दशा में दीर्घकालीन संतुलन की स्थिती में दीर्घकालीन सीमान्त लागत, सीमान्त आय, दीर्घकाल की औसत लागत, औसत आय एक दूसरे के बराबर होते हैं।

$$MC=MR=AR=AC$$

अतएव एकाधिकारी की स्थिती में पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना में कीमत अधिक होती है परन्तु उत्पादन कम होता है।

(2) कीमत सम्बन्धी तुलना : दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना में एकाधिकार की स्थिति में कीमत अधिक होती है। इसका कारण यह है कि दीर्घकालीन संतुलन की स्थिती में पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में कीमत न्यूनतम दीर्घकालीन

औसत लागत के बराबर होती है। इसें निम्न रेखाचित्र से दिखाया जा सकता है।

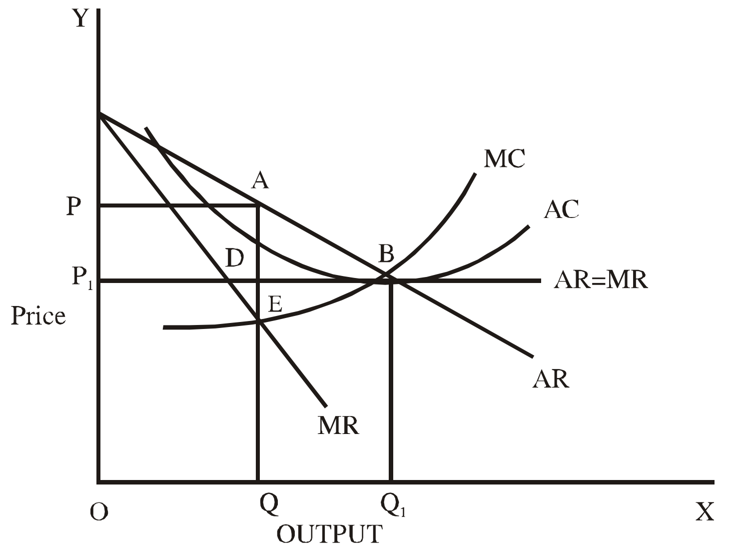

चित्र 5.24

रेखाचित्र से ज्ञात होता है कि पूर्व प्रतियोगिता की स्थिति में सन्तुलन B बिन्दू पर निर्धारित होगा। फर्म OQ_1 वस्तु का उत्पादन करेगी तथा OP_1 कीमत पर बचेगी। इसके विपरीत एकाधिकार की दिशा में कीमत न्यूनतम औसत लागत से पहले सन्तुलन की स्थिती में पहुँचने का प्रयत्न करता है। एकाधिकारी A बिन्दू पर संतुलन में हैं वह OQ मात्रा का उत्पादन कर रहा है। वस्तु की कीमत OP निर्धारित होती है अतः संतुलन उत्पादन पर दीर्घकालीन औसत लागत AQ होगी जो न्यूनतम औसत लागत BQ_1 से अधिक है।

(3) फर्मों का उद्येश्य : इन दोनों बाजारों में फर्म का उद्येश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है।

(4) क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या सम्बन्धी मान्यता : एकाधिकार में केवल एक ही विक्रेता तथा बहुत सारे क्रेता होते हैं। इस बाजार में फर्म तथा उद्योग में कोई अन्तर नहीं होता। एकाधिकारी का वस्तु की पूर्ति पर पूरा नियन्त्रण होता हैं। जबकि पूर्ण प्रतियोगिता में एक समरूप वस्तु के बहुत सारे विक्रेता तथा क्रेता होते हैं। अतः कोई एक विक्रेता अपनी पूर्ति में तथा क्रेता अपनी माँग परिवर्तन करके बाजार कीमत को प्रभावित नहीं कर सकता।

(5) उत्पादन सम्बन्धी मान्तया : पूर्ण प्रतियोगिता की यह मान्यता है कि सभी फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुएं समरूप होती है। उनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं पाया जाता। एकाधिकार स्थिती में एकाधिकारी द्वारा उत्पादित वस्तु समरूप भी हो सकती है और नहीं भी हो सकती।

(6) लाभ सम्बन्धी तुलना : अल्पकाल में इन दोनों की अवस्थाओं में उत्पादक असामान्य लाभ, सामान्य लाभ या न्यूनतम हानि उठा सकता है। परन्तु दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिती में केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होते है।

(7) प्रवेश सम्बन्धी दोनों बाजारों की मान्यता : पूर्ण प्रतियोगिता में नई फर्मो के प्रवेश तथा पूरानी फर्मों के उद्योग से बाहर जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता। इसके विपरीत एकाधिकारी की स्थिति में फर्मों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध होता हैं।

(8) फर्मों के निर्णय संबंधी निष्कर्ष : पूर्ण प्रतियोगिता में एक फर्म केवल उत्पादन की मात्रा के सम्बन्ध में निर्णय ले सकती है। वह केवल यही निर्धारित कर सकती है कि उद्योग द्वारा निर्धारित कीमत पर उसे कितना उत्पादन करता है जिससे वह संतुलन की अवस्था में रह सके। इसके विपरीत एकाधिकारी उत्पादन की मात्रा अथवा कीमत दोनों में से किसी एक निर्धारित कर सकता है। परन्तु दोनों को वह निर्धारित नहीं कर सकता। क्योंकि दोनों में एक तत्व का निर्धारण किया जाता है तो दूसरा भी उसके साथ निर्धारित हो जाता है।

(a) माँग वक्र के आकार सम्बन्धी निष्कर्ष : एकाधिकार में औसत आप वक्र का दवाब ऊपर से नीचे की ओर होता है। इसे रेखाचित्र में दिखाया जा सकता है।

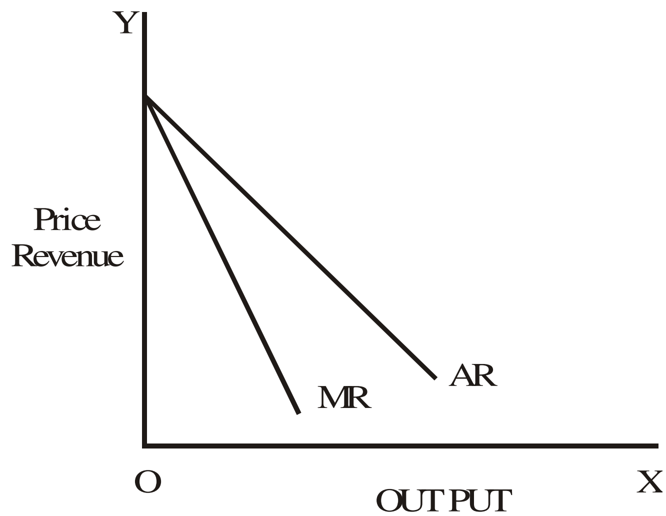

चित्र 5.25

रेखाचित्र में औसत आप वक्र (AR) तथा सीमान्त आप वक्र (MR) अलग–अलग है MR, AR से नीचे होता है।

इसके विपरीत पूर्ण प्रतियोगीता में फर्मों की अधिक संख्या तथा समरूप वस्तु की मान्यता के कारण मांग वक्र पूर्णतः लोचदार होती है। इसे रेखाचित्र से दिखाया जा सकता है।

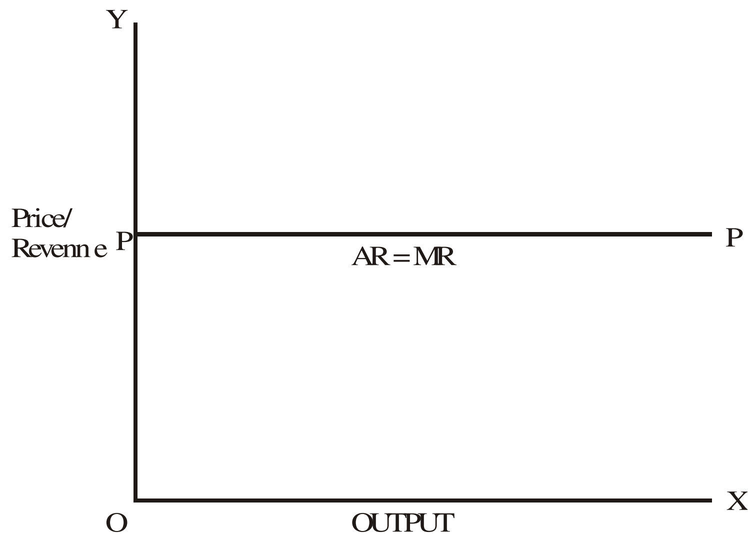

चित्र 5.26

माँग पूर्णतः लोचदार होने का अर्थ है पूर्ण प्रतियोगिता में औसत आप वक्र (AR) OX अक्ष के समानान्तर होती है। इस स्थिती में औसत आप सीमान्त आप के बराबर होती है। रेखाचित्र में AR, MR एक ही वक्र PP द्वारा दिखाये गये हैं। इस स्थिती में वस्तु की कीमत उद्योग द्वारा निर्धारित की जाती है तथा फर्म उसी कीमत को स्वीकार करने वाली होती हैं।

Bilateral Monopoly

द्विपक्षीय एकाधिकार बाजार की वह अवस्था हैं जिसमे किसी वस्तु का अकेला ही विक्रेता और अकेला ही क्रेता होता है। मानो यदि एक देश में सारा ताँबा एक ही फर्म द्वारा उत्पादित किया जाता है और एक ही फर्म इस सारे ताँबे का प्रयोग करती है तो वह द्विपक्षीय एकाधिकार कहलायेगा। इस बाजार में माँग और पूर्ति द्वारा सन्तुलन स्थापित नहीं किया जा सकता। बल्कि इस बाजार में एक ऐसे रेंज (Ronge) को परिभाषित किया जा सकता है। जिसके अर्न्तगत किमत का क्रेता और विक्रेता में निर्धारण हो सकता है। परन्तु कीमत या उत्पादन का एक निशचित् स्तर अनार्थिक तत्वों पर निर्भर करता है। जैसे सौदा

करने की शक्ति या विभिन्न फर्मों की योग्यता और नीतियाँ। द्विपक्षीय एकाधिकार में आर्थिक अनिश्चितता बनी रहती है। जो अन्य में बाहरी तत्वों द्वारा निर्धारित होती हैं। कीमत कुछ सीमाओं के बीच अनिश्चीत् होती है। मानो रेलवे के सभी यंन्त्र एक ही फर्म द्वारा उत्पादित किये जाते हैं और ये सभी यन्त्र केवल एक क्रेता अर्थात ब्रिटिश रेलवे द्वारा खरीद लिये जाते हैं। दोनों फर्मों का उद्देश्य अधिकतम लाभ कमाना होता है। उत्पादक एकाधिकारी का सन्तुलन वहाँ निर्धारित होगा जहाँ MR तथा MC वक्र एक–दूसरे को काटते हैं। इसे निम्न रेखाचित्र में दर्शाया जा सकता है।

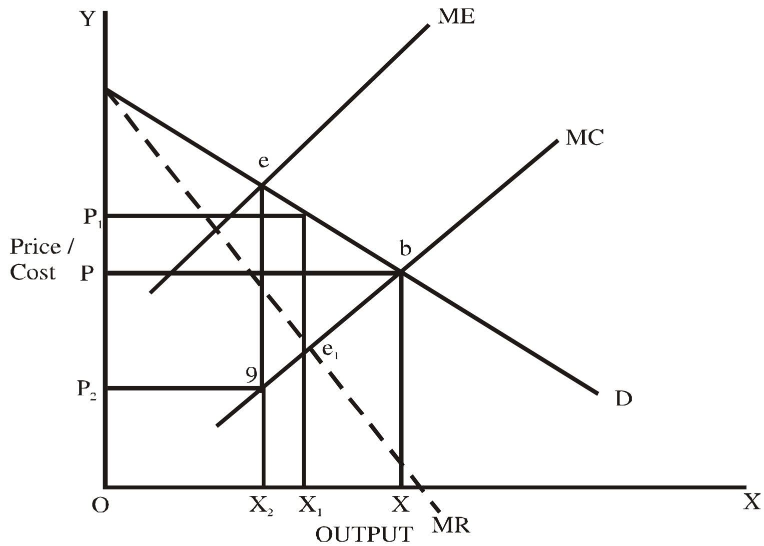

चित्र 5.27

चित्र में स्पष्ट है कि C_1 बिन्दू पर विक्रेता प्रकाधिकारी फर्म का MC=MR हैं। इसलिये हम स्थिती में उसका लाभ अधिकतम होगा। यदि उत्पादन की X_1 मात्रा उत्पादित की जाती है और उसे P_1 कीमत पर बेचना है। परन्तु उत्पादक अधिकतम लाभ वाली स्थिती को प्राप्त नहीं कर पायेगा। क्योंकि उत्पादक एकाधिकारी ने केवल अकेले ही क्रेता एकाधिकारी को वस्तु बेचती हैं और क्रेता एकाधिकारी क्रय निर्णयों द्वारा बाजार कीमत को प्रभावित कर सकता है। क्रेता भी अधिकतम लाभ प्राप्त करना चाहेगा और वह अपनी शक्ति को जानते हुए उत्पादक अपनी कीमतें थोपने का प्रयास करेगा। उत्पादक का MC क्रेता के लिये पूर्ति वक्र होती है। इस वक्र का ऊपर की ओर बढ़ता हुआ ढलान यह दर्शाता हैं कि जैसे–जैसे क्रेता एकाधिकारी अधिक से अधिक वस्तु खरीदेगा उसे ऊँची कीमत देनी पड़ेगी। MC वक्र अर्थात पूर्ति वक्र को प्रभावित करने वाली शर्तें क्रेता के नियन्त्रण में नहीं होती है। क्योंकि यह वह मात्रा होती है। जो विक्रेता एकाधिकारी भिन्न–भिन्न कीमतों पर बेचना चाहता है। क्रेता के व्यय में वद्धि होने पर (जिसे रेखाचित्र में ME द्वारा दिखाया गया है।) यह क्रेता एकाधिकारी के लिये सीमान्त लागत को दर्शाती है। उत्पादक क्रेता के लिये आगत (Input) है। अतः अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये क्रेता X वस्तु की अतिरिक्त इकाईयां जब तक खरीदता जायेगा तब तक उसका MC बराबर कीमत नहीं हो सकता है। कीमत bD वक्र द्वारा दिखाई गई है। वक्र एकाधिकारी का सन्तुलन e बिन्दू पर होगा। इस स्थिती में वह X_2 उत्पादन की मात्रा खरीदना चाहेगा और कीमत P_2 देना चाहेगा। कीमत पूर्ति वक्र के अर्थात MC वक्र के a बिन्दू पर निर्धारित होती है। मानो क्रेता P_2 क्रेता को कीमत देना चाहता है। जबकि विक्रेता P_1 किमत लेना चाहता है। इसलिये बाजार में अनिश्चित् कीमत बनी रहेगी। दोनों फर्में देर–सवेर समझौता कर लेगी और कीमत P_1 और P_2 के बीच निर्धारित हो जायेगी। यह दोनों फर्मों की सौदा करने की शक्ति तथा योग्यता पर निर्भर करता है।

व्यवहार में वस्तु बाजार द्विपक्षीय एकाधिकार नहीं पाया जाता है। परन्तु श्रम बाजार में जहाँ श्रमिक एक संगठन के रूप में अपने–आप को सुदढ़ कर लेते है। जैसे Coal bood तथा उसके काम करने वाला श्रमिक।

यदि वस्तु बाजार द्विपक्षीय एकाधिकार होता है तो MC वक्र या पूर्ति वक्र क्रेता एकाधिकारी के लिये पूर्ति वक्र बन जाती है। इसलिये उसका सन्तुलन वहाँ होगा जहाँ पर नई सीमान्त वक्र या कीमत या माँग वक्र आपस में काटती है। रेखाचित्र में यह स्थिति b बिन्दू पर पाई जाती है। इस अवस्था में सीमान्त लागत P* होगी और उत्पादन का स्तर बढ़कर X* हो जायेगा अर्थात इस स्थिती में विक्रेता एकाधिकारी P_1 से कम कीमत P* लेना चाहेगा। उस स्थिती में क्रेता एकाधिकारी के लिये कीमत कम हो जायेगी और विक्रेता एकाधिकारी उत्पादन अधिक करेगा और दोनों को लाभ होगा।

अतः स्पष्ट है कि द्विपक्षीय एकाधिकार की स्थिती में किमत में कुछ सीमाओं में अनिश्चितत्ा बनी रहती है।

Multiplant Monopoly

Multi-Firm विभिन्न प्लाटों में एक जैसा उत्पाद का उत्पादन करती है। तथा अलग–अलग प्लांटों में लागत अलग अलग होती है। यहाँ पर यह माना गया है कि फर्म के केवल दो प्लांट है A और B दोनो प्लांटो की लागत वक्र दी हुई है। जिनको A तथा B रेखाचित में दर्शाया गया है। फर्म के संतुलन के लिए दोनों प्लांटों की MC_1 तथा MC_2 वक्रो का Horiqontal Summation किया जाता है। जो कि रेखाचित्र C में दर्शाया (MC) गया है।

फर्म के लिए मांग वक्र दिया गया है। जो रेखाचित्र C में DD है। अतः MR वक्र की सहायता से एकाधिकार की कीमत निर्धारण होगा।

संतुलन की शर्त :

(1) MC=MR

(2) MC cuts MR from below.

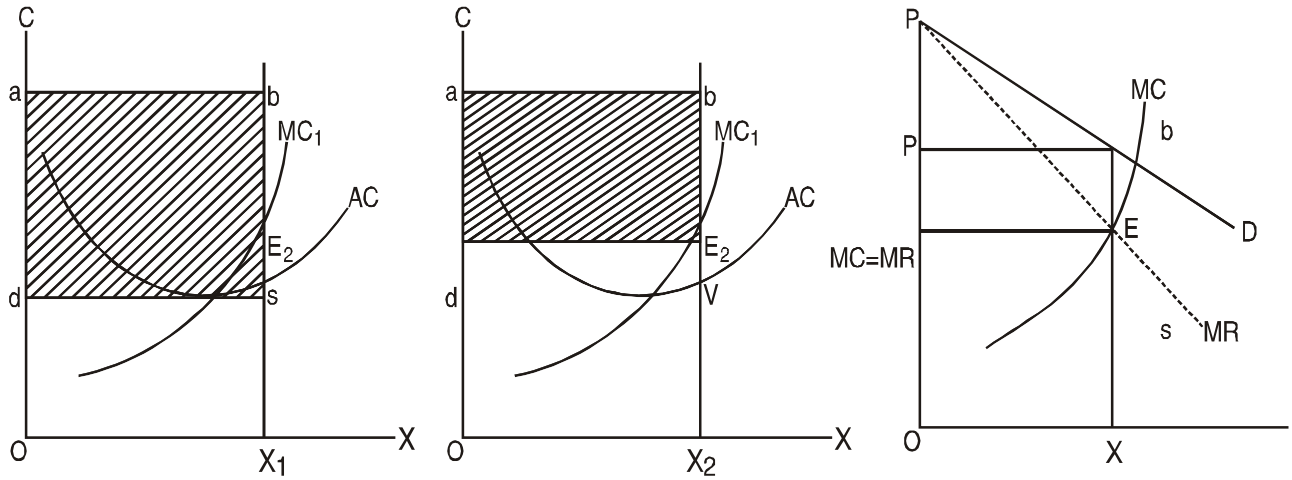

(a) (b) (c)

चित्र 5.28

अतः C रेखाचित्र में कीमत निर्धारण E बिन्दु पर होता है जहाँ पर MC=MR है। तथा फर्म P कीमत तथा X उत्पादन करेगी। A तथा B प्लांट में भी संतुलन की शर्त होगी जहाँ पर $MC_1 = MR = MC_2$ इसके अनुसार संतुलन A प्लांट में E_2 बिन्दु पर तथा B प्लांटों में एक जैसी और एकाधिकारी कीमत ली जायगी जो OP (रेखाचित्र C में) है। तथा उत्पादन OX होगा जो की X_1 जो की A प्लांट द्वारा कया गया है तथा Y_2 जो प्लांट B द्वारा किया गया है का जोड़ $(X=X_1+X_2)$ है।

प्लांट A का लाभ adsb तथा B प्लांट का लाभ ghjt होगा जब प्लांट X_1 तथा X_2 उत्पादन कर रही हैं और एकाधिकारी किमत चार्ज कर रही हैं।

एकाधिकारी प्रतियोगिता
(Monopolistic Competition)

यह बाजार की वह अवस्था है जिसमें अनेक फर्में तथा उनके क्रेता होते हैं। उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश करने व पुरानी फर्मों के छोड़ने की स्वतंत्रता होती है। विभिन्न फर्मो द्वारा उत्पादित वस्तुएँ एक–दूसरे की निकटतम स्थानापन्न होती हैं। परन्तु एक मात्रा में कीमत विभेद पाया जाता है। इस बाजार में माँग अधिक लोचदार होती है। विक्रय लागतों का इस बाजार में विशेष महत्व है। अर्थात इस बाजार में गैर–कीमत प्रतियोगता पाई जाती है। जैसे नहाने के साबुन, लक्स, हमाम, रेक्सोना विभिन्न दूथपेस्ट, कोलगेट, कलोजअप आदि।

विशेषताएँ

(1) फर्मों की अधिक संख्या : एकाधिकारी प्रतियोगिता में फर्मों की संख्या बहुत अधिक होती है।

(2) अनेक क्रेता : उस बाजार में प्रत्येक वस्तु की विभिन्न ब्राण्डों के अनेक क्रेता (खरीदार) होते हैं।

(3) कोई समझौता नहीं : फर्मों की संख्या अधिक होने के कारण फर्मों के बीच कीमत तथा उत्पादन से सम्बन्धित कोई समझौता नहीं होता है। प्रत्येक विक्रेता अपने प्रतियोगी की चिन्ता किये बिना अपनी वस्तु की कीमत व उत्पादन के बारे में निर्णय ले सकता है।

(4) निकटतम स्थानापन्न : विभिन्न फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ एक–दूसरे की निकटतम स्थानापन्न होती हैं। अर्थात इन वस्तुओं की माँग की तिरछी लोच बहुत अधिक होती है।

(5) वस्तु विभेद : इस बाजार में फर्में मिलती–जुलती वस्तुओं का उत्पादन करती हैं। परन्तु इन वस्तुओं के रंग–रूप, अकार, डिजाइन, पैकिंग आदि के आधार पर वस्तु विभेद पाया जाता है।

(6) फर्मों को बाजार में प्रवेश करने तथा छोड़ने की स्वतंत्रता : इस बाजार में नई फर्मों के बाजार में प्रवेश करने या पुरानी फर्मों के बाजार छोड़ने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है।

(7) बाजार का अपूर्ण ज्ञान : इस बाजार के क्रेताओं तथ विक्रेताओं को बाजार का अपूर्ण ज्ञान होता है। क्रेता को यह पता नहीं होता है कि कौन–सी फर्में सबसे कम कीमत पर अच्छी वस्तु बेच रही है।

(8) अति अधिक विक्रय लागतें : इस बाजार में फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुएँ एक–दूसरे की निकटतम स्थानापन्न होती है। इसलिए प्रत्येक फर्म अपनी वस्तु की बिक्री बढ़ाने के लिए, अखबारों, टेलीविजन, सिनेमा आदि में विज्ञापन पर बहुत अधिक व्यय करती है।

(9) गैर-कीमत प्रतियोगिता : इस बाजार में वस्तुओं को बेचने के लिए कीमत प्रतियोगिता नहीं पाई जाती है। फर्में वस्तुओं की अधिक मात्रा बेचने के लिए गैर–कीमत प्रतियोगिता अर्थात विज्ञापन आदि पर व्यय करती है।

(10) अधिक लोचदार माँग : इस बाजार में माँग वक्र अधिक लोचदार होती है। अर्थात AR तथा MR वक्र ऊपर से नीचे की ओर जाती है। परन्तु उनमें लोचनीयता अधिक होती है।

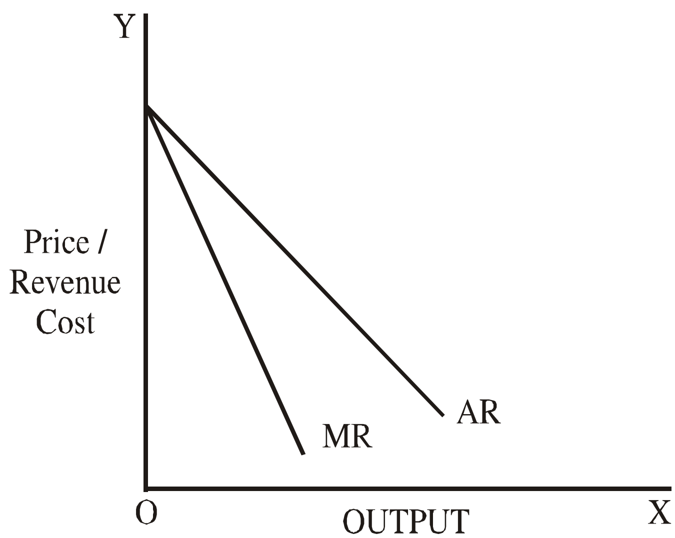

चित्र 5.29

एकाधिकारी प्रतियोगिता में कीमत तथा उत्पादन का निर्धारण या फर्म का सन्तुलन

इस बाजार में प्रत्येक फर्म अधिकतम लाभ करने के लिए उस सीमा तक उत्पादन करती है। जिस पर उसके सीमांत आप तथा सीमांत लागत बराबर हो जाती हैं। अतः इस बाजार में फर्म के सन्तुलन के लिए निम्न दो शर्तें पूरी होनी चाहिए :

(i) MR=MC

(ii) MC वक्र MR वक्र के नीचे से काटनी चाहिए

अल्पकाल में कीमत तथा उत्पादन का निर्धारण

अल्पकाल समय की वह अवधि होती है जिसमें उत्पादन बढ़ाने के लिए केवल परिवर्तनशील साधनों जैसे श्रमिकों की संख्या, बिजली, कच्चे माल की मात्रा इत्यादि से बदला जा सकता है। परन्तु स्थिर साधनों जैसे मशीनरी, भवन तथा प्लांट के आकार आदि में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। सन्तुलन की स्थिति में फर्मों को असामान्य लाभ, सामान्य लाभ या न्यूनतम हानि भी हो सकती है।

असामान्य लाभ

अल्पकाल में सन्तुलन की अवस्था में फर्म को उस समय असामान्य लाभ प्राप्त होते हैं। जब

AR > AC

औसत आय > औसत लागत

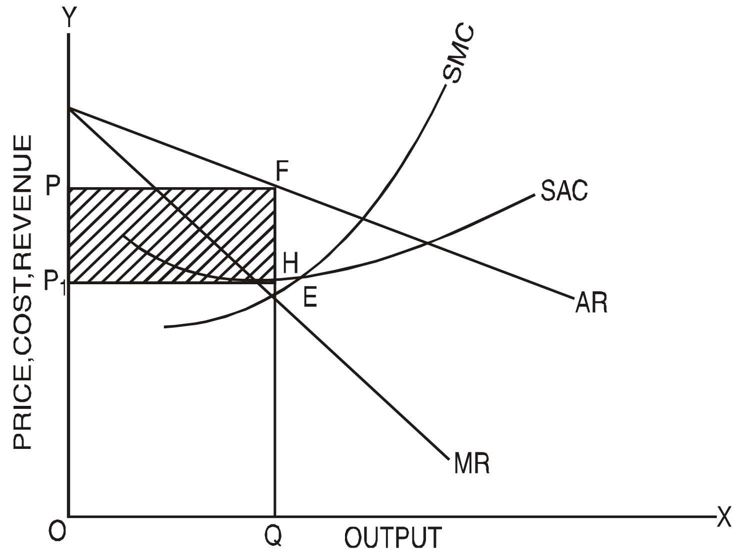

चित्र 5.30

रेखाचित्र में

AR=FQ
AC=HQ
∴ AR>AC

∴ फर्म को असामान्य लाभ प्राप्त होंगे

लाभ प्रति इकाई = AR–AC
=FQ–HQ
=FH

कुल लाभ = लाभ प्रत इकाई × कुल उत्पादन
= FH × OQ
= $FH \times PP_1$
= PP_1 FH

रेखाचित्र में स्पष्ट है कि फर्म E बिन्दु पर सन्तुलन में होगी। क्योंकि बिन्दु पर MC=MR है। तथा MC वक्र MR वक्र को नीचे से काट रही है। इस अवस्था में सन्तुलित कीमत OP तथा सन्तुलित उत्पादन OQ निर्धारित होते हैं। तथा इस अवस्था में फर्म को PP_1FH के समान असामान्य लाभ प्राप्त होंगे।

सामान्य लाभ (Normal Proft)

अल्पकाल में एकाधिकारी प्रतियोगिता में फर्म को उस समय सामान्य लाभ प्राप्त होंगे जब

AC=AC औसत आय=औसत लागत

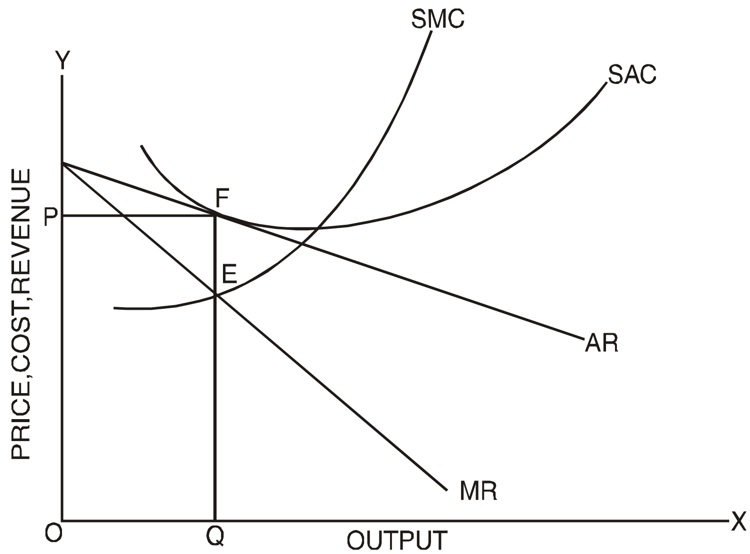

चित्र 5.31

रेखाचित्र में AR=FQ

AC=FQ

∴ AR=AC

∴ फर्म को सामान्य लाभ होंगे।

रेखाचित्र में स्पष्ट है कि फर्म E बिन्दु पर सन्तुलन में होगी क्योंकि इस बिन्दु पर MC=MR है और MC वक्र MR वक्र को नीचे से काट रही है। सन्तुलित कीमत OP तथा सन्तुलित उत्पादन OQ किया जाता है। इस स्थिति में फर्म को सामान्य लाभ प्राप्त होंगे क्योंकि यहाँ पर फर्म के AR=AC हैं।

न्यूनतम हानि

अल्पकाल में एकाधिकारी प्रतियोगिता में फर्म को उस समय हानि सहन करनी पड़ती है। जब

AR<AC

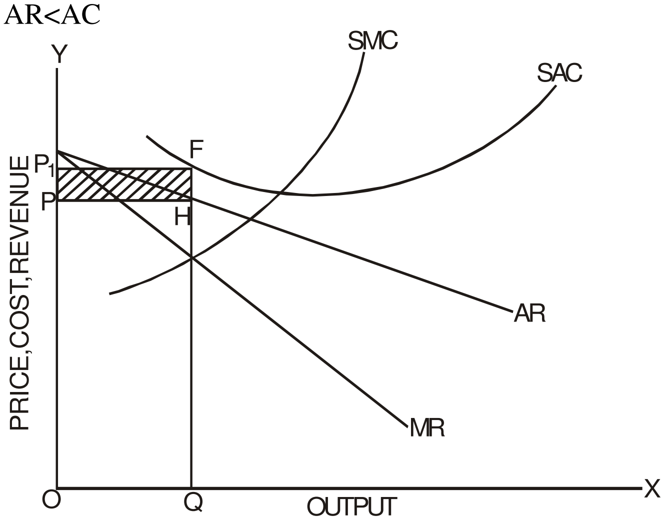

चित्र 5.32

रेखाचित्र में AR=HQ

AC=FQ

∴ AR<AC

∴ फर्म को हानि होगी

हानि प्रति इकाई = AC–AR

=FQ–HQ

=FH

कुल हानि = हानि प्रति इकाई × कुल उत्पादन

= FH × OQ

= FH × PH

= PP_1 FH

रेखाचित्र में स्पष्ट है कि अल्पकाल में एकाधिकारी फर्म E बिन्दु पर सन्तुलन में होगी। क्योंकि इस बिन्दु पर MC=MR है। तथा MC वक्र MR वक्र को नीचे से कष्ट रही है। सन्तुलित कीमत OP निर्धारित होगी तथा सन्तुलित उत्पादन Q किया जायेगा। इस अवस्था में फर्म को PP_1FH के समान हानि सहन करनी होगी।

दीर्घकाल में फर्म का सन्तुलन
या
कीमत उत्पादन का निर्धारण

दीर्घकाल समय की वह अवधि होती है जिसमें उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं। एकाधिकारी प्रतियोगिता में नई फर्मों के प्रवेश करने तथा पुरानी फर्मों के उद्योग के छोड़ने की पूर्ण स्वतंत्रता होती है। यदि किसी समय उद्योग में असामान्य लाभ प्राप्त हो तो नई फर्में उद्योग में प्रवेश कर सकती हैं। इसके फलस्वरूप वस्तु की पूर्ति बढ़ जायेगी। जिसके कारण कीमत कम हो जायेगी और फर्म को सामान्य लाभ प्राप्त होंगे। इसके विपरीत यदि उद्योग में हानि हो रही हो तो पुरानी फर्में उद्योग को छोड़कर चली जाती हैं जिसमें वस्तु की पूर्ति कम हो जायेगी तथा वस्तु की कीमत बढ़ जायेगी। फलस्वरूप अन्य फर्मों को सामान्य लाभ ही प्राप्त होंगे।

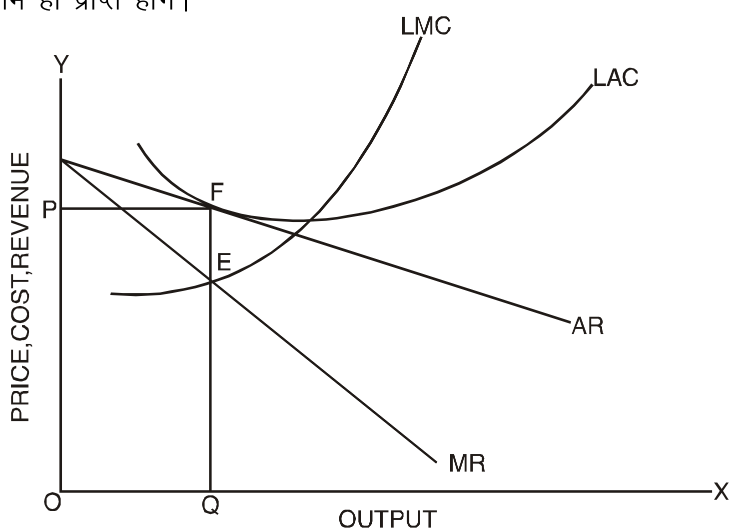

चित्र 5.33

रेखाचित्र में

AR=FQ

AC=FQ

∴ AR=AC

∴ फर्म को सामान्य लाभ प्राप्त होंगे।

रेखाचित्र में स्पष्ट है कि दीर्घकाल में एकाधिकारी में फर्म का सन्तुलन E बिन्दु पर होगा। क्योंकि इस बिन्दु पर MC=MR है। तथा MC वक्र MR वक्र को नीचे से काट रही है। इस अवस्था में असन्तुलित कमत OP तथा सन्तुलित उत्पादन OQ निर्धारित होता है। इस अवस्था में फर्म को सामान्य लाभ प्राप्त होंगे क्योंकि AR=AC है।

विक्रय लागतें
(Selling Costs)

एकाधिकारी प्रतियोगिता वाली फर्मों को अपना उत्पादन बेचने के लिए विज्ञापन तथा प्रचार पर काफी धन व्यय करना पड़ता है। वस्तु की बिक्री बढ़ाने के लिए उसके विज्ञापन तथा प्रचार पर जो कुल व्यय खर्च किया जाता है उसे विक्रय लागत कहा जाता है। विक्रय लागत की आवश्यकता एकाधिकारी प्रतियोगिता में ही अधिक होती है। अन्य बाजारों जैसे पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में सभी उत्पादकों की वस्तुएँ समान होती हैं। इसलिए उन्हें वस्तु के विज्ञापन करने की आवश्यकता नहीं होती। एकाधिकारी की अवस्था में भी वस्तु का एक ही उत्पादक होता है। उसे केवल ग्राहकों को वस्तु के उत्पादन की सूचना मात्र देनी होती है। इसलिए इस बाजार में विज्ञापन पर कुछ धन खर्च करना पड़ता है। एकाधिकारी प्रतियोगिता में विक्रय लागत केवल सूचना मात्र ही नहीं होती बल्कि यह माँगे परिवर्तन तथा बिक्री की उन्नति के लिए आवश्यक होती है। अतएव विक्रय लागतें वे लागते हैं जो किसी वस्तु की बिक्री बढ़ाने के लिए विज्ञापन, प्रचार, प्रदर्शन, दुकानदारों को दिये जाने वाले कमीशन आदि के रूप में दी जाती है।

प्रो. मेयर्स के शब्दों में, ''विक्रय लागतों से अभिप्राय उन लागतों से है जो किसी ग्राहक को एक वस्तु की अपेक्षा दूसरी वस्तु अथवा एक विक्रेता की अपेक्षा दूसरे विक्रेता से वस्तु खरीदने के लिए प्रेरित करती है।''

मान्यताएँ
(Assumptions)

उसमें निम्न मान्यताएँ हैं :

(i) क्रेताओं क माँग तथ रुचि में परिवर्तन किया जा सकता है।

(ii) क्रेताओं को वस्तु की विभिन्न किस्मों का पूर्ण ज्ञान नहीं होता।

विक्रय लागत का आकार
(Shape of the Selling Costs)

प्रो. चैम्बरलिन के अनुसार विक्रय लागत U आकार की होती है। इसे रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

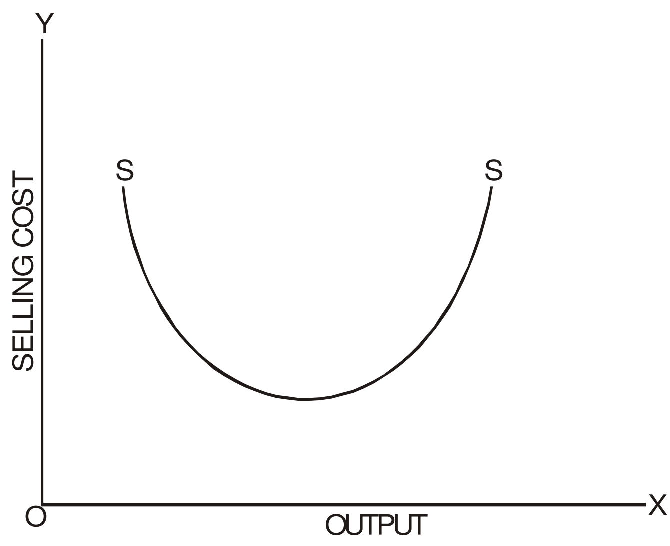

चित्र 5.34

रेखाचित्र में SS वक्र औसत विक्रय लागत वक्र है। यह वक्र पहले नीचे की ओर तथा फिर ऊपर की ओर उठ रहा है। इससे सिद्ध होता है कि आरम्भ में विक्रय लागतों के अनुपात से बिक्री में अधिक वद्धि होती है। परन्तु एक सीमा के बाद, विक्रय लागत में होने वाली वद्धि के अनुपात में वस्तु की बिक्री में कम वद्धि होती है। इसका अभिप्राय यह है कि एक सीमा तक प्रति इकाई विक्रय लागत कम होती है। परन्तु एक सीमा के बाद बढ़ने लगती है। क्योंकि इन पर भी अन्ततः घटते प्रतिफल का नियम लागू होता है।

एकाधिकारी प्रतियोगिता में अधिक्य क्षमता
(Excess Capacity Under Monopolistic Competition)

समाज के उत्पादन साधनों का पूर्ण उपयोग उस समय होता है जबकि उनके प्रयोग से उत्पादन का वह स्तर प्राप्त किया जाए जिस पर दीर्घकालीन औसत लागत न्यूनतम हो। इसका अर्थ यह है कि एक एकाधिकारी प्रतियोगी फर्म सामाजिक दष्टि से अनुकूलतम उत्पादन से कम उत्पादन करती है। एकाधिकारी प्रतियोगिता में एक फर्म का वास्तविक दीर्घकालीन उत्पादन तथा सामाजिक दष्टि से अनुकूल उत्पादन का अन्तर उसकी आधिक्य क्षमता (Excess Capacity) का माप होता है। एकाधिकारी प्रतियोगिता में आधिक्य क्षमता को रेखाचित्र (A) की सहायता से समझा जा सकता है। रेखाचित्र (B) पूर्ण प्रतियोगिता फर्म की दीर्घकालीन स्थिति को बताती है। जो कि ON उत्पादन स्तर पर, जिस पर इसकी दीर्घकालीन औसत लागत न्यूनतम है, दीर्घकालीन सन्तुलन में है। ON उत्पादन ही दीर्घकालीन उत्पादन की दोहरी शर्त (कीमत=MC=AC) पूरी होती है। अतः यह स्पष्ट है कि पूर्ण प्रतियोगिता में फर्मे सामाजिक दष्टि आदर्श मात्रा का उत्पादन करती है।

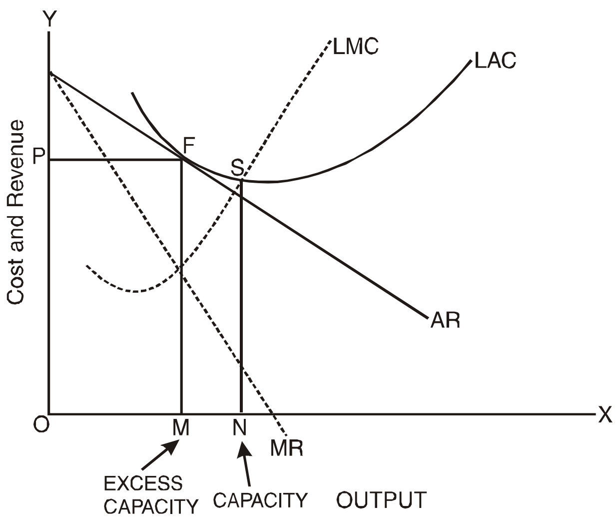

चित्र 5.35 A

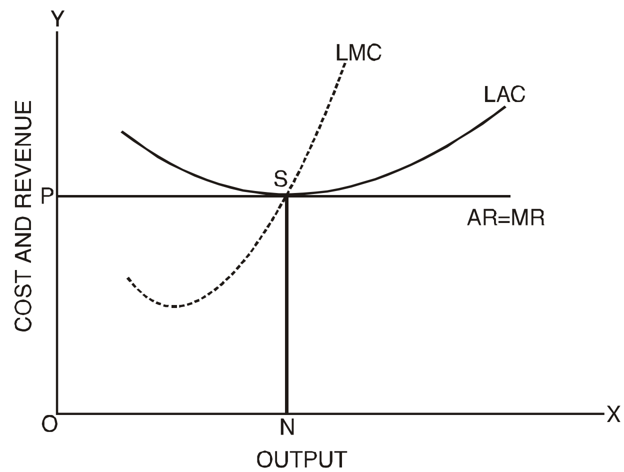

चित्र 5.35 B

रेखाचित्र (A) में एकाधिकारी प्रतियोगिता में फर्म OM उत्पादन पर सन्तुलन में है। क्योंकि इस पर इसकी सीमान्त लागत तथा सीमान्त आप बराबर है। तथा कीमत औसत लागत के बराबर है। यहाँ पर ध्यान देने योग्य है कि उत्पादन OM पर औसत लागत गिर रही है और ON उत्पादन तक गिरती रहती है। इसका अर्थ है कि फर्म ON तक अपने उत्पादन को बढ़ा कर दीर्घकालीन उत्पादन लागत को न्यूनतम कर सकती है। आदर्श उत्पादन ON है जिस पर दीर्घकालीन औसत लागत न्यूनतम है। इसलिए फर्म अनुकूलतम उत्पादन में MN मात्रा का कम उत्पादन कर रही है। यह MN उत्पादन अधिक्य क्षमता का प्रतीक है। जो कि एकाधिकारी प्रतियोगिता के कारण उत्पन्न होती है।

यह ध्यान देने योग्य है कि अधिक्य क्षमता का सम्बन्ध केवल दीर्घकाल से है। इसका कारण यह है कि अल्पकाल में किसी भी मार्किट रूप में अनुकूलतम उत्पादन से विचलन कई प्रकार के हो सकते हैं जो कि प्रचलित मार्किट स्थितियों के अनुसार पूर्ण रूप से समायोजन न होने को दर्शाते हैं।

वस्तु-विभेद
(Product Differentiation)

प्रो. चेम्बरलिन के अनुसार एकाधिकारी प्रतियोगिता की एक मुख्य विशेषता वस्तु विभेद है। वस्तु विभेद का अर्थ है कि वस्तुएँ एक–दूसरे के निकट स्थानापन्न (Close Substitute) तो होती हैं परन्तु वे समरूप (Homogeneous) नहीं होतीं और उनमे ंरंग, नाम, पैकिंग, क्वालिटी आदि का अन्तर पाया जाता है।

बाजार में आपको फोरहन्स, बिनाका, कॉलगेट, सिगनल आदि कई प्रकार के टूथपेस्ट, लिमका, कैम्पा कोला, पेप्सी कोला, कोका कोला, थम्स अप आदि कई ठण्डे पदार्थ मिलते हैं। ये एक दूसरे के स्थानापन्न हैं परन्तु इनमे विभेद भी पाया

जाता है। वस्तु विभेद की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

(1) वस्तु विभेद के फलस्वरूप वस्तुएं पूर्ण प्रतियोगिता की तरह **एक रूप** (Homogeneous) नहीं होती है।

(2) वस्तु विभेद बाजार की एक वास्तविक स्थिति है। ये वस्तुएं **निकट स्थानापन्न** (Close Substitutes) होती हैं।

(3) वस्तु विभेद वास्तविक तथा कृत्रिम दोनों प्रकार का हो सकता है।

(4) वस्तु विभेद की अवस्था में उत्पादक अपनी–अपनी वस्तुओं के नाम आदि को कानूनी रूप से पेटेन्ट करा लेते हैं उन्हें उस वस्तु के नाम, डिजाइन आदि का एकाधिकार प्राप्त होता है। जैसे वेसपा स्कूटर के उत्पादन का अधिकार केवल एक ही फर्म को है। इसका ट्रेड मार्क रजिस्टर्ड है। दूसरी फर्म इसका प्रयोग नहीं कर सकती। परन्तु वह किसी दूसरे ब्रांड की वस्तुओं का उत्पादन कर सकती हैं। इस प्रकार विभिन्न फर्मों में प्रतियोगिता भी पाई जाती है।

(5) वस्तु विभेद का उद्देश्य कीमत निर्धारित करने की शक्ति प्राप्त करना तथा लाभ में वद्धि करना। वस्तु विभेद के फलस्वरूप औसत लागत में वद्धि हो सकती है।

(6) चैम्बरलिन के अनुसार वस्तु विभेद लोगों की अनेक रूपों में **विभिन्नता** (Variety) की आवश्यकता पूरी करता है। अतएव इसके लिए कुछ अधिक कीमत देना आवश्यक हो जाता है।

(1) वस्तु विभेद की परिभाषा

(Definition of Product Differentiation)

प्रो. चैम्बरलिन (Chamberlin) के अनुसार, **''एक किस्म की वस्तुओं में विभेद उस समय उत्पन्न होता है जब एक विक्रेता की वस्तुओं तथा सेवाओं को दूसरे विक्रेता की वस्तुओं तथा सेवाओं से विभिन्न मानने को कोई महत्वपूर्ण आधार हो। यह आधार वास्तविक या कृत्रिम हो सकता है। इसके फलस्वरूप क्रेता एक उत्पादन की वस्तु को दूसरे की तुलना में अधिक पसन्द करता है।''** (A general class of product is diffentiated in only sufficient basis exists for distinguishing the good (or services) of one dealer from those of another. Such a basis may be real or fancied, so long as it is of any importance whatever to buyers and leads to a preference for any variety of the product over another.**—Chamberlin)**

(2) वस्तु विभेद तथा मांग वक्र

(Product Differentiation and the Demands Curve)

अर्थशास्त्र में सबसे पहला **सराफा** (Saraffa) ने नीचे गिरती हुई मांग वक्र के आधार के रूप में वस्तु विभेद की धारणा प्रतिपादित की थी। परन्तु कीमत तथा उत्पादन की मात्रा के निर्धारण के आधार के रूप में वस्तु विभेद की धारणा का विकास **चैम्बरलिन** ने किया था। **चैम्बरलिन** के अनुसार, **किसी फर्म की मांग पर केवल कीमत का ही प्रभाव नहीं पड़ता बल्कि वस्तु की किस्म** (Style of the Product) **तथा विक्रय लागत का भी प्रभाव पड़ता है।**

वस्तु विभेद का उद्देश्य उपभोक्ता को किसी विशेष वस्तु की मांग करने के लिए प्रेरित करना है। यह ध्यान रखना चाहिए कि विभिन्न फर्मो के उत्पादन में विभिन्नता होते हुए भी वे एक दूसरे के **निकट स्थानापन्न** (Close Substitution) होते हैं। वस्तु विभेद का मुख्य उद्देश्य कीमत निर्धारण पर उत्पादक के प्रभाव को बढ़ाना है। उत्पादक केवल **कीमत लेने वाला** (Price Taker) ही नहीं रह जाता बल्कि कीमत निर्धारित (Price Maker) करने वाला बन जाता है। इसके फलस्वरूप मांग वक्र का **ऋणात्मक झुकाव** (Negative Slope) होता है अर्थात् कीमत कम होने पर मांग बढ़ जाती है तथा कीमत के बढ़ने पर मांग कम हो जाती है। वस्तु विभेद के कारण ही मांग वक्र पर विक्रय लागतों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

(3) वस्तु विभेद तथा सन्तुलन

(Product Differentiation and Equilibrium)

एकाधिकारी प्रतियोगिता में वस्तु विभेद का फर्म के सन्तुलन पर प्रभाव पड़ता है। इसे रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। इस रेखाचित्र को बनाते समय यह मान लिया गया है कि वस्तु की दो किस्में A तथा B हैं। इनकी बिक्री के लिए कोई विक्रय लागत नहीं खर्च करनी पड़ती। फर्म को यह तय करना पड़ता है कि कौन–सी किस्म का

उत्पादन किया जाए जिससे कि अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। मान लो कि वस्तु की कीमत पहले से ही तय हो चुकी है। यह भी मान लिया गया है क उत्पादक उत्पादन की अधिक मात्रा बेच सकेगा, यदि यह उत्तम किस्म की वस्तु का उत्पादन करता है। फर्म दोनों वस्तुओं क बिक्री से मिलने वाले कुल लाभ की तुलना करती जायेगी तथा उस वस्तु का चुनाव करेगी जिससे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकेंगे। रेखाचित्र 2 से स्पष्ट होता है कि A वक्र वस्तु A का लागत वक्र है तथा B वक्र वस्तु B का लागत वक्र है। बाजार में दोनों वस्तुओं की OP कीमत प्रचलित है। B वस्तु का लागत वक्र ऊंचा है अतः इसे अधिक बढ़िया किस्म की वस्तु माना जायेगा।

मान लीजिए OP कीमत पर, जो कि स्थिर है, वस्तु 'A' की ON मात्रा की मांग की जाती है। इसकी कुल उत्पादन लागत ONFR होगी तथा बिक्री मूल्य ONFR होगा इस प्रकार फर्म को वस्तु 'A' के उत्पादन से

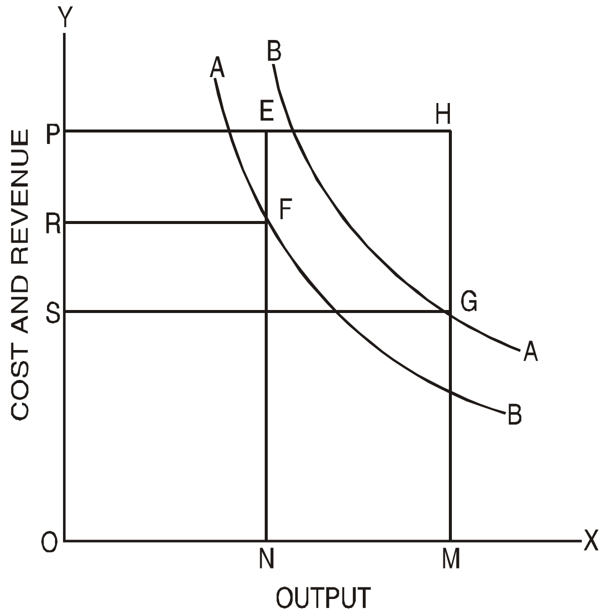

चित्र 5.36

ONEP–ONFR=RPEF

RPEF लाभ होंगे। इसके विपरीत यदि 'B' वस्तु की OM मात्रा की मांग की जाती है तो इसकी कुल उत्पादन लागत OMGS होगी तथा बिक्री मूल्य OMHP होगा। इस प्रकार फर्म को वस्तु 'B' के उत्पादन से

OMHP–OMGS=SGHP

SGHP लाभ प्राप्त होंगे। अतएव उपरोक्त रेखाचित से स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु की 'A' तथा 'B' दो किस्मों में से 'B' प्रकार के पदार्थ की बिक्री से 'A' प्रकार के पदार्थ की बिक्री की तुलना में अधिक लाभ प्राप्त होता है इसलिए फर्म वस्तु 'B' का उत्पादन करना पसन्द करेगी।

4. एकाधिकारी प्रतियोगिता में कीमत तथा सन्तुलन निर्धारण
(Price and Equilibrium Under Monopolistic Competition)

एकाधिकारी प्रतियोगिता की अवस्था में भी प्रत्येक उत्पादन का उद्देश्य अपने लाभ को अधिकतम करना होता है। हम यह देख चुके हैं कि अधिकतम लाभ उस समय होता है जबकि **सीमान्त आय** (MR) **सीमान्त लागत** (MC) के बराबर हो। एकाधिकारी प्रतियोगिता की अवस्था में सीमान्त आय (MR) पूर्ण प्रतियोगिता की तरह औसत आय (AR) के बराबर नहीं होती। एकाधिकारी प्रतियोगिता की दशा में यदि कोई फर्म अपने उत्पादन की अधिक मात्रा बेचना चाहती है तो उसे कीमत कम करनी पड़ेगी। इसी कारण एकाधिकारी प्रतियोगिता की अवस्था में औसत आय वक्र (AR Curve) तथा सीमान्त आय वक्र (MR Curve) बाएं से दाएं नीचे की ओर गिरती हुई दशा में होते हैं। एकाधिकारी प्रतियोगिता में **एक फर्म उसी सीमा तक उत्पादन करती है जिस पर सीमान्त आय तथा सीमान्त लागत बराबर हो जाती हैं** (MR=MC) **तथा सीमांत लागत वक्र सीमांत आय वक्र को नीचे से काटती है।** इस अवस्था में उत्पादन करने से फर्म सन्तुलन की स्थिति में होती है।

एकधिकारी प्रतियोगिता की स्थिति में एक वस्तु का उत्पादन करने वाली बहुत सी फर्में होती हैं। इन्हें **समूह** (Group) कहा जाता है। एकाधिकारी प्रतियोगिता की स्थिति में फर्म तथा समूह के कीमत तथा सन्तुलन की स्थिति का दो भागों में अध्ययन किया जायेगा। **(1) फर्म का सन्तुलन** (Firm's Equilibrium) तथा **(2) समूह का संतुलन** (Group's Equilibrium)।

एकाधिकारी प्रतियोगिता तथा पूर्ण प्रतियोगिता में तुलना
(Comparison between Monopolistic and Perfect Competition)

(1) उत्पादन सम्बन्धी मान्यता (Assumption Regarding Product) : पूर्ण प्रतियोगता की यह मान्यता है क सभी फर्मों द्वारा उत्पादित वस्तुएं समरूप (Homogeneous) होती है। इसके विपरीत एकाधिकारी प्रतियोगिता की अवस्था में वस्तु विभेद (Product Differentiation) पाया जाता है। फर्म द्वारा उत्पादित वस्तुओं में कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होता है। इस अन्तर के कारण ही प्रत्येक फर्म अपनी वस्तु के सम्बन्ध में एकाधिकारी (Monopolist) होती है।

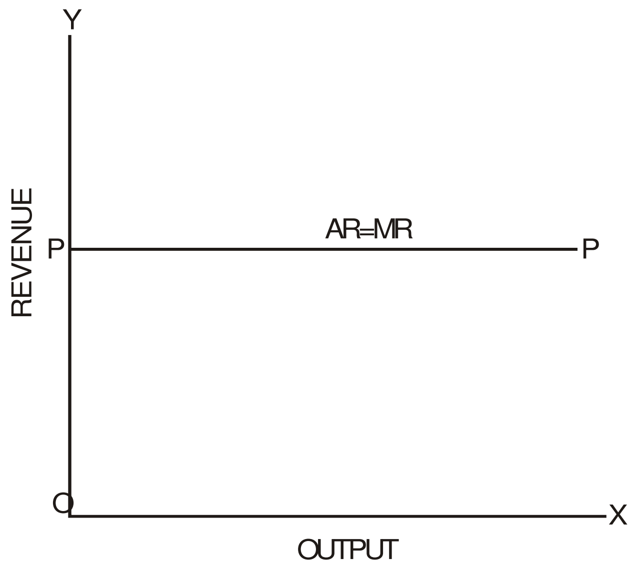

चित्र 5.37

(2) क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या सम्बन्धी मान्यता (Assumption Regarding Number of Buyers and Sellers) : पूर्ण प्रतियोगिता में समरूप वस्तु के बहुत से विक्रेता होते हैं। इनके समूह को **उद्योग** (Industry) कहा जाता है। कोई भी विक्रेता अपने कार्यों से दूसरों को प्रभावित नहीं कर सकता। एकाधिकारी प्रतियोगिता में भी विक्रेताओं की संख्या अधिक होती है। बहुत सारे विक्रेताओं को **समूह** (Group)—कहा जाता है क्योंकि उनके उत्पादन में विभिन्नता पाई जाती है। बाजार की इन दोनों स्थितियों में बहुत से क्रेता होते हैं।

(3) ज्ञान की मात्रा सम्बन्धी मान्यता (Assumption Regarding Degree of Knowledge) : पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में यह मान लिया जाता है कि विक्रेताओं तथा क्रेताओं को बाजार दशाओं का पूर्ण ज्ञान है। इसके विपरीत एकाधिकारी प्रतियोगिता की स्थिति में क्रेताओं और विक्रेताओं को बाजार सम्बन्धी क्रियाओं के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं होता।

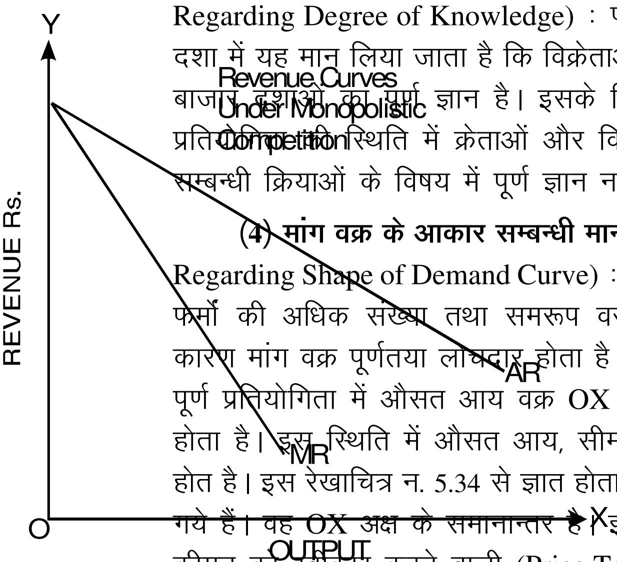

चित्र 5.38

(4) मांग वक्र के आकार सम्बन्धी मान्यता (Assumption Regarding Shape of Demand Curve) : पूर्ण प्रतियोगिता में फर्मों की अधिक संख्या तथा समरूप वस्तु की मान्यता के कारण मांग वक्र पूर्णतया लोचदार होता है। इसका अर्थ है कि पूर्ण प्रतियोगिता में औसत आय वक्र OX अक्ष के समानान्तर होता है। इस स्थिति में औसत आय, सीमांत आय के बराबर होत है। इस रेखाचित्र न. 5.34 से ज्ञात होता है कि औसत (AR) तथा सीमांत आय (MR) एक ही वक्र अर्थात् PP द्वारा दिखाये गये हैं। वह OX अक्ष के समानान्तर है। इस स्थिति में वस्तु की कीमत उद्योग द्वारा निर्धारित की जाती है तथा फर्म उसी कीमत को स्वीकार करने वाली (Price Taker) होती है। इसके विपरीत एकाधिकारी प्रतियोगिता में औसत आय वक्र का ढलान ऊपर से नीचे की ओर होता है।

रेखाचित्र न. 5.35 से ज्ञात होता है कि औसत आय वक्र (AR) तथा सीमांत आय वक्र (MR) अलग–अलग हैं। ये दोनों वक्र नीचे की ओर झुकी होती हैं। एकाधिकारी प्रतियोगिता में एकाधिकारी **कीमत निर्माता** (Price Maker) होता है।

(5) फर्मों के निर्णय सम्बन्धी निष्कर्ष (Implications Regarding Decisions) : पूर्ण प्रतियोगिता में एक फर्म केवल उत्पादन की मात्रा के सम्बन्ध में निर्णय ले सकती है। वह केवल यही निर्धारित कर सकती है कि उद्योग द्वारा निर्धारित कीमत पर उसे कितना उत्पादन करना है जससे वह सन्तुलन की अवस्था में रह सके। पूर्ण प्रतियोगिता में फर्म को **विक्रय लागत** (Selling Cost) खर्च करने की आवश्यकता नहीं होती। इसके विपरीत एकाधिकारी प्रतियोगिता की दशा में फर्म

उत्पादन की मात्रा अथवा कीमत दोनों में से किसी एक को निर्धारित कर सकती है इसका कारण यह है कि दोनों तत्वों में से कोई एक निर्धारित होता है तो दूसरा तत्त्व उसके साथ–साथ स्वयं ही निर्धारित हो जाता है। एकाधिकारी प्रतियोगिता में फर्मो को बहुत अधिक **विक्रय लागत** (Selling Cost) लगानी पड़ती है। विक्रय लागत एकाधिकारी प्रतियोगिता की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

(6) अधिकतम लाभ की दशा सम्बन्धी निष्कर्ष (Implications Regarding Condition of Maximum Profit) : पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकारी प्रतियोगिता दोनों में सीमान्त विश्लेषण के अनुसार सन्तुलन सम्बन्धी निर्णय निम्नलिखित नियम के आधार पर किया जा सकता है

सन्तुलन → सीमान्त आय (MR) = सीमांत लगात (MC)

इससे सिद्ध होता है कि इन दोनों स्थितियों की अवस्था उसी समय होती है जब उत्पादन उस सीमा तक किया जाता है जिस पर सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय बराबर हो जाए।

(7) कीमत सम्बन्धी तुलना (Comparison Regarding Prince) : दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना में एकाधिकारी प्रतियोगिता में कीमत अधिक पाई जाती है। इसका कारण यह है कि दीर्घकालीन सन्तुलन की स्थिति में पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में जैसा कि रेखाचित्र में दिखाया गया है। कीमत न्यूनतम दीर्घकाल औसत लागत (Minimum long run average cost) के बराबर होती है। सन्तुलन बिन्दु E पर कीमत रेखा (AR curve), LAC वक्र को उसके न्यूनतम बिन्दु पर छू रही है। इसके विपरीत एकाधिकारी प्रतियोगिता की दशा में कीमत न्यूनतम लागत से अधिक होती है। जैसा कि रेखाचित्र से स्पष्ट हो जाता है कि फर्म E बिन्दु पर सन्तुलन की मात्रा में है। यह वस्तु की OM मात्रा का उत्पादन कर रही है। इस मात्रा पर फर्म को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होंगे परन्तु दीर्घकालीन सन्तुलन की स्थिति में एकाधिकारी प्रतियोगिता वाली फर्म पूर्ण प्रतियोगिता वाली फर्म की तुलना में उत्पादन कम करेगी तथा कीमत अधिक निर्धारित करेगी। पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में फर्म द्वारा निर्धारित कीमत न्यूनतम औसत लागत के बराबर AN (OP_1) होगी। इसके विपरीत एकाधिकारी प्रतियोगिता की स्थिति में कीमत AN से अधिक अर्थात् BM (OP) निर्धारित होगी जो न्यूनतम औसत लागत से P_1P के बराबर अधिक है।

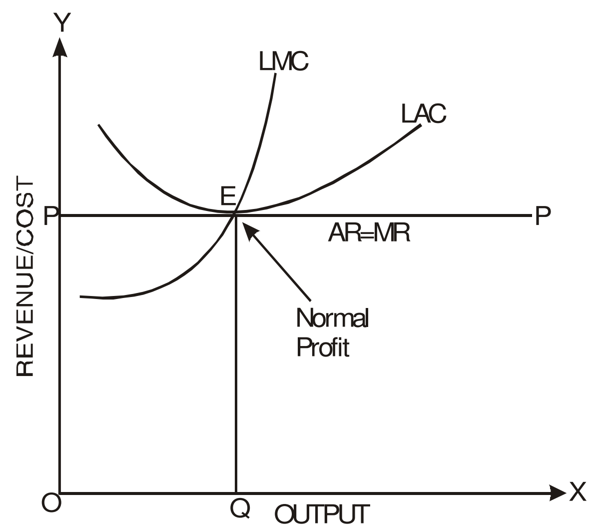

चित्र 5.39

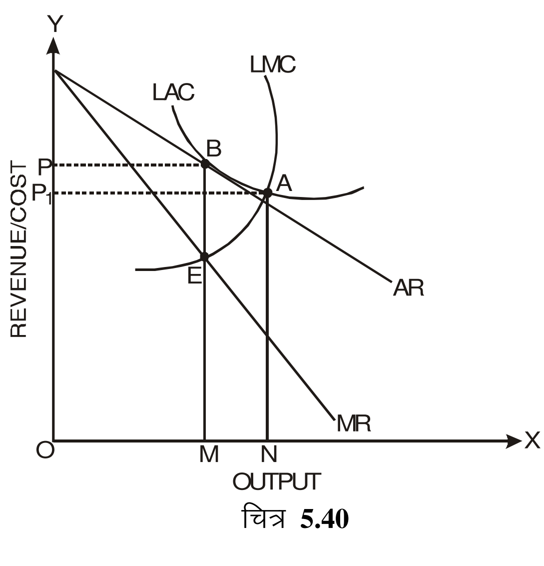

चित्र **5.40**

(8) उत्पादन सम्बन्धी तुलना (Comparison Regarding Output) : दीर्घकालीन सन्तुलन की दशा में पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना में उत्पादन अधिक होता है। पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में, दीर्घकालीन सन्तुलन की अवस्था में, दीर्घकालीन सीमान्त लागत (LMC), सीमान्त आय (MR), दीर्घकालीन औसत लागत (LAC), तथा औसत आय (AR) एक दूसरे के बराबर होते हैं। रेखाचित्र से स्पष्ट हो जाता है कि E बिन्दु पर

LMC = MR = AR = LAC

इसके विपरीत एकाधिकारी प्रतियोगिता की अवस्था में दीर्घकालीन सन्तुलन की स्थिति में LAC तथा AR, बराबर होते हैं, परन्तु AR, MR तथा MC से अधिक होता है।

LMC = MR, AR = LAC; AR>MR; AR > MC

यही कारण है कि एकाधिकारी प्रतियोगिता में पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना में कीमत अधिक होगी तथा उत्पादन कम होगा। रेखाचित्र से ज्ञात होता है कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में उत्पादन ON होगा जबकि एकाधिकारी प्रतियोगिता की अवस्था में OM होगा।

(9) लाभ सम्बन्धी तुलना (Comparison Regarding Profit) : अल्पकाल में पूर्ण प्रतियोगिता तथा एकाधिकारी प्रतियोगिता दोनों स्थितियों में उत्पादक सामान्य लाभ अथवा असामान्य लाभ प्राप्त कर सकता है अथवा न्यूनतम हानि उठा सकता है तथा दीर्घकाल में बाजार की दोनों अवस्थाओं में ही उत्पादक को सामान्यतः **सामान्य लाभ** (Normal Profit) प्राप्त होते हैं। लेकिन एकाधिकारी प्रतियोगिता में कुछ अत्याधिक कुशल फर्में हो सकती हैं जिन्हें दीर्घकाल में भी शेष फर्मों की तुलना में थोड़ा अधिक लाभ प्राप्त होता है।

8. एकाधिकारी प्रतियोगिता तथा एकाधिकार में तुलना

(Comparison between Monopolistic Competition and Monopoly)

एकाधिकारी प्रतियोगिता तथा एकाधिकार की तुलना निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर की जा सकती है :

(1) उत्पादन सम्बन्धी मान्यता (Assumption Regarding Product) : एकाधिकार की स्थिति में एकाधिकारी द्वारा उत्पादित वस्तु समरूप हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती। परन्तु एकाधिकारी प्रतियोगिता की दशा में वस्तु विभेद (Product Differentiation) पाया जाता है।

(2) क्रेताओं तथा विक्रेताओं की संख्या सम्बन्धी मान्यता (Assumption Regarding Numbers of Sellers and Buyers) : एकाधिकारी प्रतियोगिता की यह मान्यता है कि निकटतम स्थानापन्न (Close Substitute) का उत्पादन करने वाले बहुत सारे विक्रेता तथा क्रेता होंगे। इसके विपरीत एकाधिकार में केवल एक ही विक्रेता तथा बहुत से क्रेता होते हैं।

(3) प्रवेश सम्बन्धी मान्यता (Assumption of Regarding Entry) : एकाधिकारी प्रतियोगिता में नई फर्मों के प्रवेश (Entry) तथा पुरानी फर्मों के उद्योग से बाहर जााने (Exit) पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। परन्तु अल्पकाल में फर्म का प्रवेश या निष्कासन सरल नहीं होता। यह वास्तव में दीर्घकाल में ही सम्भव होता है। परन्तु एकाधिकार की स्थिति में फर्मों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध होता है।

(4) ज्ञान की मात्रा सम्बन्धी मान्यता (Assumption Regarding Degree of Knowledge) : एकाधिकार में यह मान लिया गया है कि विक्रेता तथा क्रेताओं को बाजार सम्बन्धी क्रियाओं के विषय में पूर्ण ज्ञान है। परन्तु एकाधिकारी प्रतियोगिता की दशा में क्रेताओं तथा विक्रेताओं को बाजार की क्रियाओं के विषय में अपूर्ण ज्ञान होता है।

(5) विभिन्न औसत तथा सीमांत आय वक्र (Different Average and Marginal Revenue Curves) : एकाधिकार में औसत आय तथा सीमांत आय वक्र अलग–अलग होते हैं। जैसा कि चित्र नं. 5.41 में दिखाया गया है AR वक्र वस्तु की विभिन्न इकाइयों की कीमत तथा MR वक्र सीमांत आय को प्रकट करता है। ये वक्र ऊपर से नीचे की ओर झुके हुए हैं। इसका अर्थ यह है कि यदि एकाधिकारी अधिक वस्तु बेचना चाहता है तो उसे कीमत कम करनी पड़ेगी।

एकाधिकारी प्रतियोगिता की दशा में औसत आय वक्र तथा सीमांत आय वक्र भिन्न–भिन्न होते हैं। जैसा कि रेखाचित्र में दिखाया गया है। ये ऊपर से नीचे की ओर झुके होते हैं। परन्तु **एकाधिकारी प्रतियोगिता में सीमांत आय वक्र तथा औसत आय वक्र एकाधिकार की तुलना में अधिक लोचदार होते हैं।**

(7) फर्मों के निर्णय सम्बन्धी निष्कर्ष (Implications Regarding Decisions) : एकाधिकारी प्रतियोगिता तथा एकाधिकार दोनों में ही फर्म उत्पादन की मात्रा अथवा कीमत दोनों में से किसी एक को निर्धारित कर सकती है, पर दोनों को निर्धारित नहीं कर सकती तथा एकाधिकारी प्रतियोगिता में फर्म को बहुत अधिक विक्रय लागत (Selling Cost) लगानी पड़ती है। इसके विपरीत एकाधिकारी को अपने उत्पादन की सूचना देने के लिए विज्ञापन लागत पर केवल थोड़ा सा धन ही खर्च करना पड़ता है।

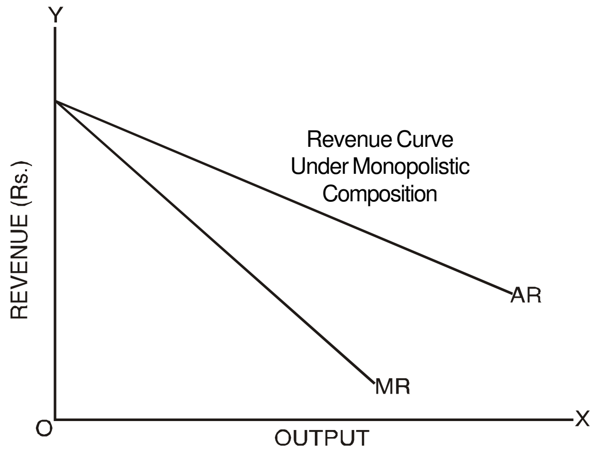

चित्र 5.41

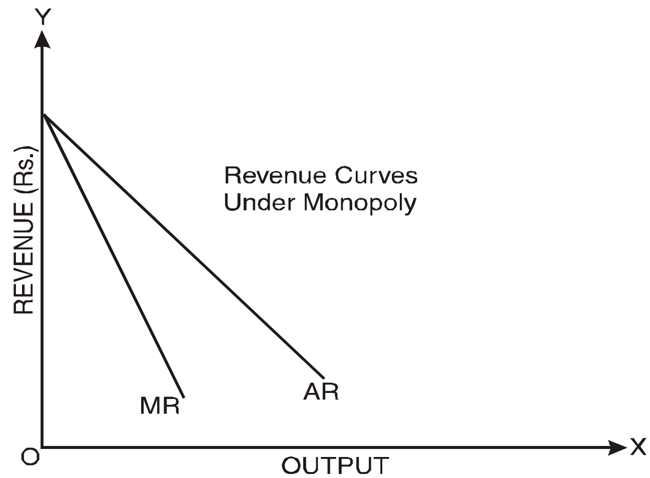

चित्र 5.42

(8) लाभ सम्बन्धी तुलना (Comparison Regarding Profit) : अल्पकाल में एकाधिकारी प्रतियोगिता लाभ तथा सामान्य लाभ प्राप्त कर सकता है या न्यूनतम हानि उठा सकता है। परन्तु दीर्घकाल में एकाधिकारी प्रतियोगिता वाली फर्म सामान्यतः केवल सामान्य लाभ (Normal Profit) प्राप्त करेगी। इसके विपरीत एकाधिकारी फर्म असामान्य लाभ (Super Normal Profit) प्राप्त करेगी।

संक्षेप में बाजार की विभिन्न अवस्थाओं में कई समानताएं तथा कई असमानताएं पाई जाती हैं।

अल्पाधिकार
(Oligopoly)

अल्पाधिकार अपूर्ण प्रतियोगिता का एक महत्वपूर्ण रूप है। अल्पाधिकार उस स्थिति को कहा जाता है जिसमें किसी वस्तु के दो या दो से अधिक (परन्तु बहुत अधिक नहीं) उत्पादक या विक्रेता होते हैं। यद्यपि कुछ या अधिक फर्मों के मध्य कोई सीमा निर्धारण कठिन है। परन्तु यदि एक वस्तु के उत्पादकों की संख्या दो से दस तक हो तो इस स्थिति को अल्पाधिकार कहा जाता है। जब कुछ विक्रेताओं की वस्तुएं समान हो तो उसे शुद्ध अल्पाधिकार कहा जाता है। दूसरी ओर जब विभिन्न विक्रेताओं या फर्मों की वस्तुएं विभेदीकृत परन्तु एक–दूसरे के निकट स्थानापन्न हैं तो इसे अपूर्ण अल्पाधिकार कहा जाता है।

विशेषताएं (Characteristics)

1. परस्पर निर्भरता—अल्पाधिकार की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता उद्योग की कुछ फर्मों द्वारा निर्णय करने में पारस्परिक निर्भरता है। इसका कारण यह है कि जब प्रतियोगी फर्मों की संख्या कम होती है तो एक फर्म द्वारा निर्धारित किए गये कीमत, उत्पादन सम्बन्धी निर्णयों का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से प्रतिद्वन्द्वियों के लाभों पर पड़ता है। जो इन परिवर्तनों को ध्यान में रखकर अपनी कीमतों तथा उत्पादन सम्बन्धी निर्णयों में जैसी भी आवश्यकता हो परिवर्तन करते हैं। एक अल्पाधिकारी फर्म द्वारा कोई भी निर्णय लेते समय यह ध्यान रखना पड़ता है कि उसके निर्णयों के फलस्वरूप उसके प्रतिद्वन्द्वी की प्रतिक्रिया किस प्रकार की होगी। इस प्रकार स्पष्ट है कि अल्पाधिकारी फर्म को केवल समस्त उद्योग के पदार्थों की बाजार मांग को ही ध्यान में नहीं रखना होता बल्कि उसको यह भी ध्यान में रखना होता है कि उसकी क्रियाओं या निर्णयों पर उद्योग की अन्य फर्मों की प्रतिक्रियायें क्या होंगी।

2. विज्ञान तथा विक्रय लागतों का महत्व : प्रो. लामोल के अनुसार, ''अल्पाधिकार में ही विज्ञापन बहुत महत्वपूर्ण बन जाता है।'' पूर्ण प्रतियोगिता में एक व्यक्तिगत फर्म द्वारा विज्ञापन व्यर्थ है क्योंकि दी हुई कीमत पर वह वस्तु की जितनी चाहे मात्रा बेच सकती है। एकाधिकारी को भी विज्ञापन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह अपने पदार्थ का एकमात्र विक्रेता होता है। सम्भव है एकाधिकारी को उस समय विज्ञापन की आवश्यकता पड़े जबकि वह अपने पदार्थ के जो मॉडल के बारे में जनता को अवगत कराना चाहता है। लेकिन अल्पाधिकार में विज्ञापन आवश्यक है। अल्पाधिकारियों की परस्पर–निर्भरता का एक प्रत्यक्ष प्रभाव यह

है कि विभिन्न फर्मों को बाजार में अपना हिस्सा बढ़ाने या वर्तमान हिस्से में कमी न होने देने के लिए बाजार–शस्त्रों अर्थात विज्ञापन लागतों का प्रयोग करना पड़ता है।

3. अल्पाधिकारी के मांग वक्र की अनिश्चितता : इस बाजार की एक अन्य विशेषता यह है कि अल्पाधिकारी जिस मांग वक्र का सामना करता है वह अनिश्चित होता है। इस बाजार में फर्मों की परस्पर निर्भरता होती है। अल्पाधिकार में एक फर्म यह नहीं मान सकती कि उसके द्वारा कीमत परिवर्तन की स्थिति में उसके प्रतिद्वन्द्वी अपनी कीमतों में परिवर्तन नहीं करेंगे। इसके कारण अल्पाधिकारी के मांग वक्र की निश्चितता समाप्त हो जाती है।

Indeterminate Pricing and Output
OR
Price and Output Determination Under Oligopoly

अल्पाधिकार समस्या का समाधान सरल व निश्चित नहीं है। इसलिए अल्पाधिकार में कीमत एवं उत्पादन निर्धारण का विश्लेषण करने के लिए अर्थशास्त्रियों ने विभिन्न मॉडलों का विकास किया है। जोकि अल्पाधिकारी समूह से व्यवहार तथा फर्म द्वारा कीमत परिवर्तन के कारण प्रतिद्वन्द्वियों के प्रतिक्रिया ढाँचे की बहुत–सी विभिन्न मान्यताओं पर आधारित है। ''प्रतिद्वन्द्वी आपस में मिल–जुलकर अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने का निर्णय कर सकते हैं, कम से कम वहां तक जहां तक वे कानून ऐसा कर सकते हैं अथवा दूसरी सीमा यह है कि वे मत्यु तक एक–दूसरे से लड़ते रहें।'' अर्थशास्त्रियों ने अल्पाधिकारी समूह के व्यवहार उनके उद्देश्यों के सम्बन्ध में जिनको वे प्राप्त करना चाहते हैं तथा एक फर्म द्वारा कीमत व उत्पादन में परिवर्तन से उसकी प्रतियोगी फर्मों के प्रतिक्रिया ढॉचे के सम्बन्ध में बहुत–सी अनेक मान्यताओं के आधार पर बहुत से मॉडलों का विकास किया है। मुख्य मॉडल निम्नलिखित है–

(1) कूनों, बरट्रेन्ड़ तथा एजवर्थ द्वारा प्रतिपादित प्रतिष्ठित मॉडल

(2) कीमत नेतत्व मॉडल

(3) कपट सन्धायी अल्पाधिकारी मॉडल

(4) विकुंचन मांग अल्पाधिकारी मॉडल

कीमत नेतत्व
(Price Leadership)

अल्पाधिकारी उद्योगों में अनौपचारिक समझौते का एक महत्वपूर्ण उदाहरण 'कीमत नेतत्व' है। कीमत नेतत्व में किसी औपचारिक समझौते तथा विभिन्न फर्मों की क्रियाओं के नियंत्रण के लिए किसी स्वतंत्र एजेंसी की स्थापना न होने के कारण इसमें गुटबन्दी विरोधी कानूनों, जिनको कुछ देशों ने पारित किया हुआ है, के तोड़ने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

कीमत नेतत्व के प्रकार
(Types of Price Leadership)

1. प्रधान फर्म तथा कीमत नेतत्व : प्रधान फर्म उसे कहते हैं जिसका वस्तु की मार्केट में अधिक भाग हो जिनमें प्रत्येक का मार्केट का भाग बहुत कम हो। इनमें कीमत तथा उत्पादन के निर्धारण की व्याख्या करने के लिए हम यह मान लेते हैं कि प्रधान फर्म को पदार्थ की मार्केट मांग सम्बन्धी पूर्ण जानकारी प्राप्त है। इसके अतिरिक्त हम यह भी मान लेते हैं कि प्रधान फर्म छोटी फर्मों की सीमान्त लागत वक्र को भी जानती है जिनके क्षतिज योगीकरण से छोटी फर्मों द्वारा पदार्थ की विभिन्न कीमतों पर पूर्ति निर्धारित होती है। प्रधान फर्म द्वारा कीमत नेतत्व को निम्न रेखाचित्र से दिखाया जा सकता है–

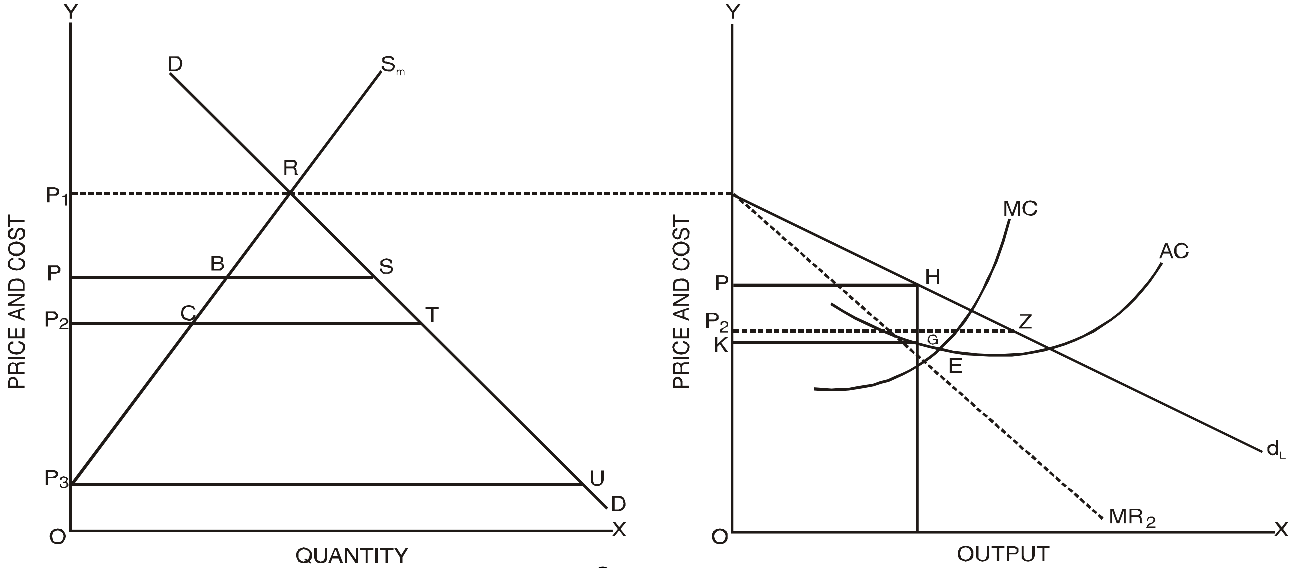

चित्र 5.43

रेखाचित्र के खण्ड (b) पर विचार कीजिए जिसमें DD पदार्थ का मार्केट मांग है। S_m लघु फर्मों द्वारा पदार्थ की पूर्ति को दर्शाता है। प्रत्येक कीमत पर प्रधान फर्म मार्केट मांग के उस भाव को बेच पाएगी जिसकी लघु फर्मों द्वारा पूर्ति नहीं हो पाती। इस प्रकार रेखाचित्र के खण्ड (a) से स्पष्ट है कि कीमत P_1 पर लघु फर्मो द्वारा की गई मूर्ति P_1R है जो उस वस्तु की मांगी गई मात्रा के समान है। अतएव प्रधान द्वारा पदार्थ की मांग कीमत P_1 पर शून्य होगी। वस्तु की कीमत P पर लघु फर्मो द्वारा कुल पूर्ति की मात्रा PB है। जबकि इस कीमत पर वस्तु की कुल मार्किट मांग की मात्रा PS है। अतएव कीमत P पर प्रधान के पदार्थ की मांग BS के समान होगी। (BS=PS-PB)। रेखाचित्र के खण्ड (b) में PH को BS के बराबर कर लिया गया है। इसी प्रकार कीमत P_2 पर लघु फर्मों द्वारा वस्तु की पूर्ति की मात्रा P_2C होगी। जबकि मार्केट में मांग मात्रा P_2T है। जिसके कारण वस्तु की कीमत P_2 पर प्रधान द्वारा उत्पादित पदार्थ की मांग (CT) के समान होगी। रेखाचित्र के खण्ड (a) से पता चलेगा कि कीमत P_3 पर लघु फर्मो द्वारा कुल पूर्ति शून्य है। अतः कीमत P_3 पर समस्त मार्केट मांग मात्रा की पूर्ति नेता द्वारा की जाएगी। इस प्रकार सभी कीमतों पर वस्तु की मार्केट मांग DD है तथा लघु फर्मों के पूर्ति वक्र Sm से हम क्रेता द्वारा उत्पादित पदार्थ का मांग वक्र d_L बना सकते हैं।

2. स्थितिमान कीमत नेतत्व : इसके अन्तर्गत एक पुरानी, अनुभवी तथा सबसे बड़ी फर्म सबसे संरक्षक का रूप धारण कर लेती है और सबके हितों की रक्षा करती है। वह बाजार में पदार्थ की मांग, उत्पादन लागत के सम्बन्ध में बाजार स्थितियों में परिवर्तनों के अनुमान लगाती है और कीमतों में इस प्रकार के परिवर्तन करती है कि वे सभी फर्मों के दष्टिकोण से सर्वोत्तम हो। स्वाभाविक है कि अन्य फर्मे उसका पालन करेंगी।

3. शोषणात्मक कीमत नेतत्व : इस कीमत नेतत्व में एक बड़ी फर्म आक्रामक कीमत के माध्यम से अपना नेतत्व स्थापित कर लेती है और इस प्रकार उद्योग की अन्य फर्मों को इसका पालन करने पर बाध्य कर देती है।

कपट-सन्धायी अल्पाधिकार
(Collusive Oligopoly)

इस स्थिति के अन्तर्गत, विभिन्न अल्पाधिकारी फर्मे, उस सामान्य नीति के बारे में, जिसका पालन उनको करना है, आपस में औपचारिक समझौता कर लेती है। इस समझौते पर फर्मे एक कीमत–युद्ध प्रतियोगिता के बाद अनुभव से यह समझ कर कि कीमत–युद्ध प्रतियोगिता के बाद अनुभव से यह समझ कर कि कीमत–युद्ध सबके लिए हानिकारक है, पहुंच सकती है। इसके अतिरिक्त वे दूरदर्शिता का परिचय दे सकती है तथा एक दूसरे के साथ कपट सन्धि कर सकती है। इस सन्धि को काटैल रचना कहा जाता है। अतः काटैल की रचना के अन्तर्गत कीमत तथा उत्पादन मात्रा का निर्धारण ही कपट–सन्धि के अन्तर्गत कीमत तथा उत्पादन मात्रा का निर्धारण है। काटैल रचना को निम्न रेखाचित्र ही सहायता से समझा जा सकता है–

$$MCc = MCa + MCb$$

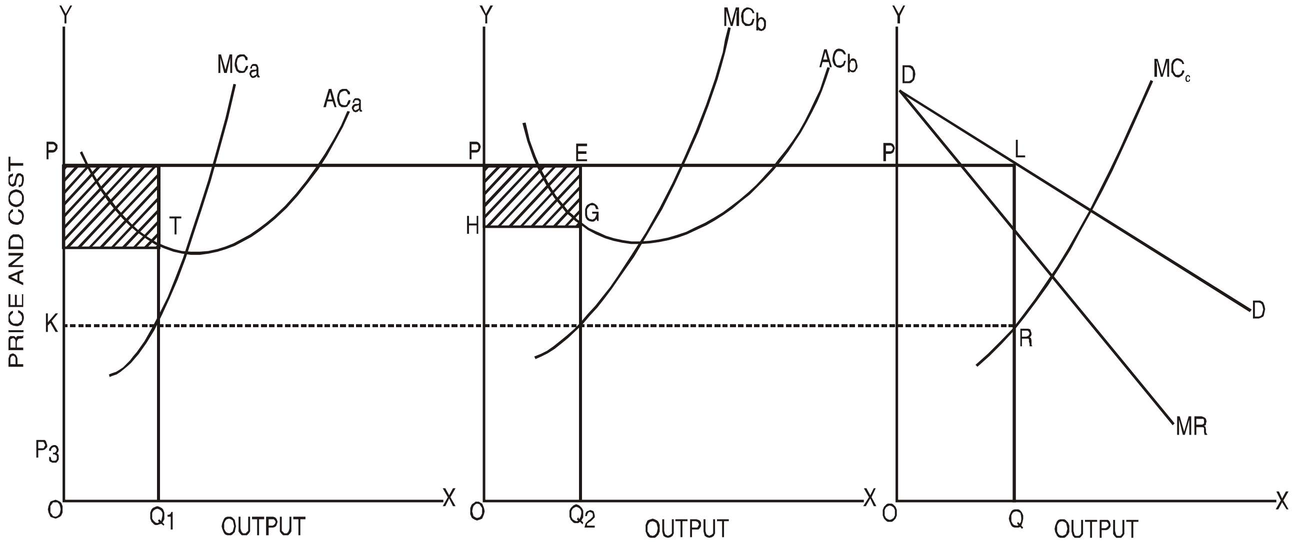

चित्र 5.44

काटैल द्वारा कीमत तथा उत्पादन की मात्रा का निर्धारण

रेखाचित्र में सीमांत आय वक्र, जो यह बताता है कि उत्पादन व बिक्री में प्रत्येक वद्धि से काटैल की आय में कितनी वद्धि होती है मांग वक्र DD के नीचे होगा। काटैल के सीमांत लागत वक्र को दोनों फर्मों के सीमांत लागत वक्रों के क्षैतिज योगीकरण से प्राप्त किया गया है।

काटैल में अपने लाभों को अधिकतम करने के लिए उद्योग के उत्पादन को उस स्तर पर निर्धारित करेगा जहां उसका आय वक्र (MR) सीमांत लागत वक्र MC वक्र को काटेगा। रेखाचित्र में ये दोनों एक–दूसरे को R बिन्दु पर काटते हैं। मांग वक्र DD से यह भी पता चलता है कि OQ उत्पादन मात्रा कीमत OP पर बेची जायेगी। रेखाचित्र से पता चलता है कि जब A फर्म OQ_1 तथा B फर्म N_2 मात्राओं का उत्पादन करती है तो दोनों फर्मों की लागतें समान हैं। इस प्रकार A फर्म का उत्पादन कोटा क्रमशः OQ_1 तथा OQ_2 निश्चित होगा। कुल उत्पादन OQ के बराबर होगा। उत्पादन तथा कीमत को क्रमशः OQ तथा OP पर निर्धारित करने से काटैल की रचना अर्थात कपट सन्धि करने वाली फर्मों के संयुक्त लाभ अधिकतम होंगे।

अल्पाधिकार के प्रतिष्ठित मॉडल
(Classical Model of Oligopoly)

प्रतिष्ठित माडलों में मुख्य रूप से निम्न माडल शामिल किये जाते हैं—

(1) कूर्नो का माडल

(2) बरट्रेन्ड का माडल

(3) एजवर्थ माडल

1. कूर्नो का माडल

फ्रांस के अर्थशास्त्री आगंस्टीन कूर्नो ने 1838 में अपने द्वि–अधिकार के सिद्धांत को प्रकाशित किया। परन्तु 1880 तक यह अनदेखा रहा। फिर उसी वर्ष वालरस के अर्थशास्त्रियों का ध्यान कूर्नो के माडल की ओर आकर्षित किया। कूर्नो ने दो खनिज झरनों का उदाहरण लिया, जो कि समान हैं, जिनको दो फर्म A तथा B चला रही है। और खनिज जल को एक ही बाजार में बेच रही है। इस प्रकार यह समान पदार्थों वाले द्वि–अधिकारी की व्याख्या करता है। साथ ही कूर्नो ने यह भी माना है कि उत्पादक, बिना किसी उत्पादन लागत के खनिज झरनों को चलाकर पानी बेच रहे हैं। इस प्रकार कूर्नो ने अपने माडल में उत्पादन लागत को शून्य मानकर बाजार के केवल मांग पक्ष का विश्लेषण किया है।

कूर्नो अपने विश्लेषण का प्रारम्भ इस आधारभूत मान्यता से करते हैं कि प्रत्येक द्वि–अधिकारी का यह विश्वास है कि उसकी क्रियाओं और उसके पदार्थ की बाजार कीमत पड़ने वाले प्रभावों से बेखबर होकर दूसरा उत्पादक उसी मात्रा का उत्पादन करता रहेगा जिसका वह वर्तमान में उत्पादन कर रहा है।

कूर्नो के माडल को निम्न रेखाचित्र में दर्शाया जा सकता है। माना फर्म A आरम्भ में पानी का उत्पादन शुरू करके उसका विक्रय अब फर्म B यह मानकर की फर्म A का कुल उत्पादन स्थिर है अर्थात OA है। तथा फर्म का काम वक्र CD^1 है। उत्पादन आरम्भ करती है। स्पष्ट है कि फर्म B बाजार के कुल उत्पादन की आधी मात्रा अर्थात AD^1 मात्रा का उत्पादन करेगी। क्योंकि इस स्तर पर उत्पादन की AB मात्रा तथा कीमत स्तर P^1 पर फर्म B का कुल लाभ्भ अधिकतम है। फर्म B बाजार के आधे उत्पादन को उत्पादित करती है। जिसकी पूर्ति बाजार में A फर्म द्वारा नहीं किया जाता।

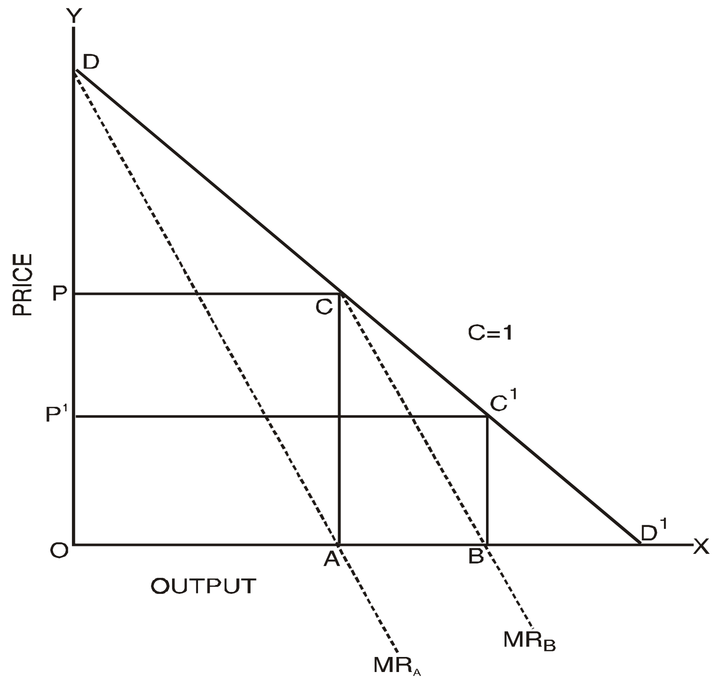

चित्र 5.45

इस स्थिति में B फर्म का बाजार उत्पादन $\frac{1}{4}\left(=\frac{1}{2}.\frac{1}{2}\right)$ होगा।

अब मानो फर्म B अपने उत्पादन की मात्रा को पहली समयावधि के समान स्थिर रखती है। इस अवस्था में फर्म A उस आधे उत्पादन को उत्पादित करेगी जिसे फर्म B द्वारा उत्पादित नहीं किया गया है। इस प्रकार अगली समयावधि में फर्म A द्वारा कुल बाजार उत्पादन का भाग $\frac{1}{2}\left(1-\frac{1}{4}\right)=\frac{1}{2}.\frac{3}{4}=\frac{3}{8}$ होगा

फर्म B कूर्नो के माडल की मान्यता को ध्यान में रखते हुए कुल बाजार उत्पादन का आधा हिस्सा करेगी जिसकी पूर्ति नहीं की गई है।

$$\frac{1}{2}\left(1-\frac{3}{8}\right)=\frac{5}{16}$$

तीसरी अवधि में फर्म A यह मानकर की फर्म B अपने उत्पादन की मात्रा को स्थिर रखेगी, उत्पादन करती है। वह बेची हुई कुल बाजार उत्पादन का आधा हिस्सा उत्पादित करेगी।

$$\frac{1}{2}\left(1-\frac{5}{16}\right)=\frac{11}{32}$$

यह क्रिया–प्रतिक्रिया दोनों फर्मों के बीच चलती रहेगी। कूर्नो के माडल में दोनों फर्मों के सन्तुलन को निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है।

फर्म A द्वारा विभिन्न समय अवधियों में किया गया उत्पादन

$$\text{Period 1: } -\frac{1}{2}$$

$$\text{Period 2 : } -\frac{1}{2}\left(1-\frac{1}{4}\right)=\frac{3}{8}=\frac{1}{2}-\frac{1}{8}$$

$$\text{Period 3 :} -\frac{1}{2}\left(1-\frac{5}{16}\right)=\frac{11}{32}=\frac{1}{2}-\frac{1}{8}-\frac{1}{32}$$

$$\text{Period :} -\frac{1}{2}\left(1-\frac{42}{128}\right)=\frac{43}{128}$$

$$=\frac{1}{2}-\frac{1}{8}-\frac{1}{32}-\frac{1}{128}$$

हम पाते हैं कि A का उत्पादन क्रमशः गिर रहा है। इसे निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है :

A फर्म का उत्पादन में सन्तुलन $=\frac{1}{2}-\frac{1}{8}-\frac{1}{32}-\frac{1}{128}$...........

$$=\frac{1}{2}-\left[\frac{1}{8}+\frac{1}{8}.\frac{1}{4}+\frac{1}{8}.\left(\frac{1}{4}\right)^2+\frac{1}{8}\left(\frac{1}{4}\right)^3+......\right]$$

फर्म B द्वारा विभिन्न समयावधियों में किया गया उत्पादन

$$\text{Period 1 : } \frac{1}{2}\left(\frac{1}{2}\right)=\frac{1}{4}$$

$$\text{Period 2: } \frac{1}{2}\left(1-\frac{3}{8}\right)=\frac{5}{16}=\frac{1}{4}+\frac{1}{16}$$

$$\text{Period 3: } \frac{1}{2}\left(1-\frac{11}{32}\right)=\frac{21}{64}=\frac{1}{4}+\frac{1}{16}+\frac{1}{64}$$

$$\text{Period 4: } \frac{1}{2}\left(1-\frac{43}{128}\right)=\frac{85}{258}=\frac{1}{4}+\frac{1}{16}+\frac{1}{64}+\frac{1}{256}$$

हम पाते हैं कि B का उत्पादन गिर रहा है लेकिन घटती दर से। इसे हम निम्न प्रकार से लिख सकते हैं :—

फर्म B का उत्पादन में सन्तुलन $=\frac{1}{4}+\frac{1}{4}.\frac{1}{4}+\frac{1}{4}\left(\frac{1}{4}\right)^2+\frac{1}{4}\left(\frac{1}{4}\right)^3$.......

बरट्रेन्ड का मॉडल
(Bertrand's Model)

बरट्रेन्ड के अनुसार, कीमत के गिरने की कोई सीमा नहीं है क्योंकि प्रत्येक उत्पादक दूसरे से कम कीमत पर बेचने को तैयार होकर तथा अपने ही उत्पादित पदार्थ की पूर्ति बढ़ाकर कीमत को गिरा सकता है। ऐसा वह तब कर

सकता है जब तक कीमत, औसत लागत के बराबर वही हो जाती है। इस माडल की विभिन्न मान्यताएं हैं जैसे कि कूर्नो के माडल में था, उत्पादक किसी भी मात्रा का उत्पादन करके किसी भी कीमत पर बेचने को तैयार नहीं हो जाते। इसके स्थान पर पहले कीमत निर्धारित करते हैं और उस कीमत पर मांगी गई मात्रा का उत्पादन करते हैं। इस माडल में प्रत्येक उत्पादक यह मानता है कि उसका प्रतिद्वन्द्वी वर्तमान स्तर पर अपनी कीमत स्थिर रखेगा, उसकी चाहे कीमत कुछ भी हो।

इसके अतिरिक्त, इस माडल में उत्पादन के लिये अपने पदार्थ की बाजार मांग की ठीक जानकारी रखना आवश्यक नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं कि बाजार मांग के सम्बन्ध में वह समरूप विचार रखें। प्रत्येक उत्पादक के लिए केवल यही जानना काफी है कि वह कीमतों में कटोतियां करके सम्पूर्ण बाजार पर कब्जा कर सकता है।

अब मान लीजिए कि A तथा B दो उत्पादक हैं। A उत्पादक पहले उत्पादन प्रारम्भ करता है। इस समय A के एकमात्र उत्पादक होने के कारण वह वस्तु की कीमत एकाधिकारी स्तर पर निर्धारित करेगा। इस कीमत पर उसको अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। अब मान लीजिए B भी बाजार में प्रवेश करता है और उतनी ही मात्रा का उत्पादन करता है। जितनी मात्रा का उत्पादन A कर रहा था। परन्तु B सोचता है कि करने लगती हैं वह उत्पादन की OA मात्रा का OP कीमत स्तर पर उत्पादन आरम्भ करती है। इस स्थिति में फर्म A का लाभ अधिकतम है। क्योंकि इस बिन्दु पर MC=MR=O है। बाजार में मांग की लोच इस स्तर पर इकाई के बराबर है और फर्म का कुल आगम अधिकतम है। जब लागत शून्य होती है तो कुल आगम ही फर्म का अधिकतम लाभ होता है। A वही कीमत वसूल करता रहेगा जो अब कर रहा है, B की कीमत चाहे जो भी हो। साथ ही B यह भी देखता है कि कीमत में तनिक सी कमी करके वह सम्पूर्ण बाजार पर अधिकार प्राप्त करके अत्यधिक लाभ अर्जित कर सकता है। इसलिए Bजो कीमत निर्धारित करेगा वह A की कीमत से थोड़ी कम होगी और परिणामस्वरूप बाजार की समस्त मांग उसके पास आ जाएगी। कुछ समय के लिए A की बिक्री शून्य हो जाएगी। समस्त बाजार के हाथ से निकल जाने के कारण A अपनी कीमत नीति पर फिर से विचार करेगा। परन्तु अपनी नई कीमत नीति पर निर्णय लेते समय वह मान लेता है कि B वही कीमत वसूल करता रहेगा जो वर्तमान में कर रहा है। उसके सामने दो विकल्प हैं। प्रथम, वह कीमत में उतनी ही कमी करे जितनी B ने की थी। इस स्थिति में वह आधे बाजार पर कब्जा कर लेगा और आधा बाजार B के पास रहेगा। दूसरे, वह B की कीमत से कम कीमत निर्धारित करे। इस स्थिति में A पूरे बाजार पर अधिकार प्राप्त कर लेगा। स्पष्ट है कि यह दूसरा तरीका अधिक लाभ प्रदान देने वाला है। इसलिए A जो कीमत निर्धारित करेगा वह B से कम होगी।

कीमत युद्ध तब तक जारी रहेगा जब तक कीमत गिर कर लागत के बराबर नहीं हो जाती। जब एक बार कीमत पर लागत के बराबर हो जाती है, तो दोनों में से कोई भी कीमत को कम नहीं करना चाहेगा। इस प्रकार सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

विकुंचित मांग वक्र
(Kinked Demand Curve)

अल्पाधिकार में कीमत स्थिरता के सम्बन्ध में बहुत–सी व्याख्याएं प्रस्तुत की गयी हैं। परन्तु सबसे लोकप्रिय व्याख्या विकुंचित (kinked) मांग वक्र सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन पॉल एम. स्वीजी ने, जो एक अमेरिकन विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्री हैं, तथा हाल व हिच ने जो आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्री हैं स्पष्ट रूप से किया है।

विकुंचित मांग वक्र सिद्धान्त अल्पाधिकार में कीमत––निर्धारण की व्याख्या नहीं करता; यह केवल इतना बताता है कि जब एक बार अल्पाधिकार में कीमत निर्धारित हो जाती है तो यह अपरिवर्तित या स्थिर क्यों रहती है। इस सिद्धान्त के अनुसार, अल्पाधिकारी जिस मांग वक्र का सामना करता है, उसमें वर्तमान कीमत के स्तर पर विकुंचन होता है। विकुंचन वर्तमान जीवन–स्तर पर इसलिए होता है क्योंकि मांग वक्र का यह भाग जो वर्तमान कीमत से ऊपर हैं अत्यन्त लोचदार होता है और वर्तमान जीवन से मांग वक्र का नीचे का भाग बेलोचदार होता है।

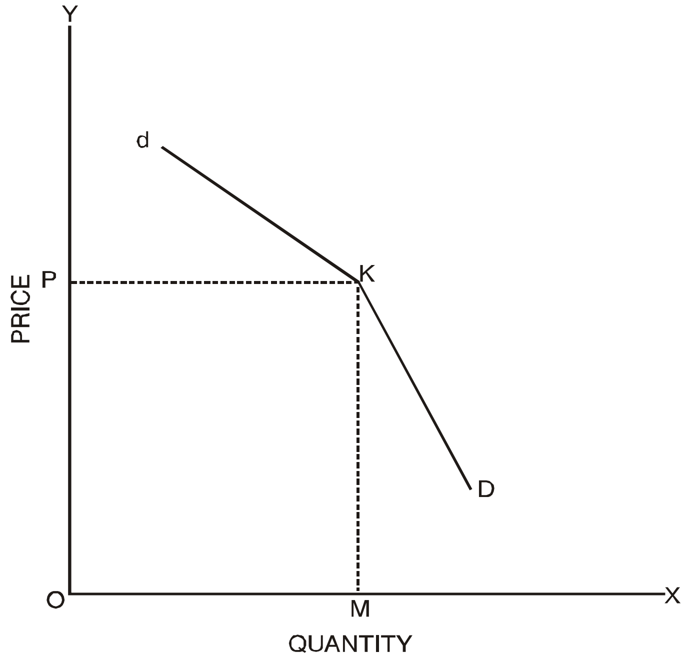

चित्र 5.46

रेखाचित्र में dD एक विकुंचित मांग वक्र है जिसमें K बिन्दु पर विकुंचन है। वर्तमान कीमत स्तर पर OP है तथा फर्म OM मात्रा का उत्पादन व बिक्री कर रही है। dD मांग वक्र का ऊपर का ऊपर वाला भाग dK अपेक्षाकृत लोचदार है तथा निचला भाग KD अपेक्षाकृत बेलोचदार। लोचों में अन्तर उस विशेष प्रतियोगी प्रतिक्रिया–ढांचे के कारण होता है। जिसकी कल्पना विकुंचित मांग वक्र सिद्धांत में गई है।

इस सिद्धानत में जिस प्रतियोगी प्रतिक्रिया की कल्पना की गई है वह यह है–प्रत्येक अल्पाधिकारी यह विश्वास करता है कि यदि वह अपनी कीमत को वर्तमान स्तर से नीचे गिरा देता है तो उसके प्रतिद्वन्द्वी भी ऐसा ही करेंगे और अपनी–अपनी कीमतों को गिरा देंगे, परन्तु यदि वह कीमत में वद्धि कर देता है, तो उसके प्रतिद्वन्द्वी ऐसा नहीं करेंगे।

अपने प्रतिद्वन्द्वियों को दो प्रकार की प्रतिक्रियाओं के कारण ही मांग वक्र का वर्तमान कीमत–स्तर से ऊपर का भाग अपेक्षाकृत लोचदार होता है तथा इससे नीचे का भाग अपेक्षाकृत बेलोचदार है। इसकी व्याख्या नीचे की गई है।

(a) **कीमत में कमी करना** : ऊपर दिये गये रेखाचित्र पर ध्यान करने पर हम पाते हैं कि यदि अल्पाधिकारी अपनी बिक्री बढ़ाने के उद्देश्य से अपनी वस्तु की कीमत को वर्तमान कीमत–स्तर पर OP से कम कर देता है, तो उसके प्रतिद्वन्द्वियों को यह भय होता है कि उनके क्रेता उस अल्पाधिकारी की वस्तु खरीदना आरम्भ कर देगी जिसने कीमत कम कर दी है। अतः अपने क्रेताओं को अन्य उत्पादक के पास जाने से रोकने के लिए उनको भी अपनी कीमत कम करनी होगी जितनी पहले उत्पादक ने की है। इस प्रकार एक अल्पाधिकारी द्वारा कीमत कम करने पर उसके प्रतियोगी द्वारा अनुसरण करने पर उसकी बिक्री में विशेष वद्धि नहीं होगी।

(b) कीमत वद्धि –अल्पाधिकारी यदि अपनी कीमत वर्तमान में बढ़ा देता है तो उसकी बिक्री बहुत घट जाएगी। इसका कारण यह है कि कीमत बढ़ने पर उसके क्रेता उसकी वस्तु को खरीदने के स्थान पर उसके प्रतियोगियों की वस्तुओं को खरीदने लगेंगे। उस नये क्रेता आने पर उसके प्रतियोगी कीमत नहीं बढ़ाएंगे।

Unit-6

कीमतों के साधन-I
(Factor Pricing-I)

साधन कीमत सिद्धान्त

साधन कीमत सिद्धान्त क्या है?—साधन कीमत सिद्धान्त में यह अध्ययन किया जाता है कि भूमिपति को मिलने वाला लगान, श्रमिक की मजदूरी, पूँजी की सेवाओं के लिए प्राप्त ब्याज तथा उधमी को प्राप्त होने वाला लाभ कैसे निर्धारित होता है। इन साधनों को उत्पादन सेवाएँ, साधन का आगत भी कहा जाता है।

साधन कीमत निर्धारण के सिद्धान्त—

(1) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त

(2) आधुनिक सिद्धान्त

1. सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त : इस सिद्धान्त का प्रतिपादन 1826 में जर्मन अर्थशास्त्री T.H. Von Thunen ने किया था। इसका विकास कार्ल मेंजर, बोध्य बेवरक, वालरस तथा विकस्टीड, ऐजवर्थ तथा क्लार्क ने किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में साधनों की सेवाओं का मूल्य उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर निर्धारित होता है। साधनों की माँग इसलिए की जाती है क्योंकि उनमें वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन करने की योग्यता होती है। वस्तुओं तथा सेवाओं के उत्पादन करने की योग्यता को ही साधन की उत्पादकता कहा जाता है अतएव उत्पादन के साधन की माँग उसकी उत्पादकता के लिए की जाती है। उत्पादकता ज्ञात करने के लिए आवश्यक है कि अन्य साधनों को स्थिर रखकर उस साधन की एक अतिरिक्त इकाई का प्रयोग किया जाए। इसके फलस्वरूप कुल उत्पादन में जो वद्धि होगी, वह मुख्यतः उस साधन की अतिरिक्त (Extra) इकाई के कारण होगी। कुल उत्पादन में होने वाली इस वद्धि को ही उस साधन की **सीमान्त उत्पादकता** (Marginal Productivity) कहा जाएगा। अतएव साधनों की परस्पर निर्भरता के फलस्वरूप उनकी सीमान्त उत्पादकता पर ही उनकी माँग निर्भर करेगी।

सिद्धान्त की मान्यताएँ
(Assmptions of the Theory)

साधन कीमत का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :–

(1) वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition in Product Market) : वस्तु बाजार में जहाँ उत्पादित वस्तु को बेचा जाएगा, पूर्ण प्रतियोगिता है। अतएव वस्तु की सीमान्त आय तथा औसत आय बराबर होगी अर्थात् एक फर्म के द्वारा उत्पादन बढ़ाने पर कीमत में कोई अन्तर नहीं आएगा।

(2) साधन बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता (Perfect Competition in Factor Market)—साधन बाजार में भी पूर्ण प्रतियोगिता है। प्रत्येक फर्म को साधन की प्रचलित कीमत देनी पड़ेगी। पूर्ण प्रतियोगिता के कारण सभी साधन **पूर्णतया गतिशील** (Perfectly Mobile) है, तथा उनकी पूति **पूर्णतया मूल्य सापेक्ष** (Perfectly Elastic) है।

(3) साधनों की समरूपता (Homogeneous Factors) : उत्पादन के किसी भी साधन विशेष की सभी इकाईयाँ समरूप (Homogeneous) हैं। इनका एक दूसरे के लिए स्थानापन्न (Substitution) किया जा सकता है।

(4) प्रतिस्थापित साधन (Substitutable Factors) : उत्पादन के विभिन्न एक–दूसरे के **पूर्णतया प्रतिस्थापित** (Perfectly Substitutable) हैं अर्थात् श्रम के लिए पूंजी का प्रयोग किया जा सकता है।

(5) पूर्णतया गतिशील (Perfectly Mobile) : साधनों की प्रत्येक इकाई पूर्णतया गतिशील है, इसलिए एक साधन की कीमत विभिन्न व्यवसायों में एक समान होगी।

(6) साधनों का विभाजन (Divisible Factors) : उत्पादन के विभिन्न साधनों का छोटी–छोटी इकाईयों में विभाजन किया जा सकता है।

(7) अधिकतम लाभ (Maximum Profit) : उत्पादन करने का उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना है।

(8) पूर्ण रोजगार (Full Employment) : अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार की अवस्था पाई जाती है। इस मान्यता का अर्थ यह हुआ कि साधन की पूर्ति स्थिर रहती है।

(9) परिवर्तन साधन संयोग (Variable Input Co-efficient) : उत्पादन के साधनों का विभिन्न अनुपात में प्रयोग किया जा सकता है अर्थात् किसी एक साधन की मात्रा को, अन्य साधनों की स्थिर मात्रा के साथ घटाया या बढ़ाया जा सकता है। जैसे एक हेक्टेयर भूमि पर चार श्रमिक या पाँच श्रमिक काम पर लगाए जा सकते हैं।

(10) उत्पादन की तकनीक स्थिर रहती है (State of Technology Remains Constant) : इस सिद्धान्त की यह भी मान्यता है कि उत्पादन की तकनीक में भी कोई परिवर्तन नहीं आता।

सीमान्त उत्पादकता के अर्थ तथा प्रकार
(Meaning and Types of Marginal Productivity)

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की व्याख्या करने से पूर्व हमें सीमान्त उत्पादकता तथा उसके विभिन्न प्रकारों का अर्थ भलीभाँति समझ लेना चाहिए। अर्थशास्त्र में सीमान्त उत्पादकता शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया जाता है:–

(1) सीमान्त भौतिक उत्पादकता (Marginal Physical Productivity) : जब हम सीमान्त उत्पादकता को उत्पादन (वस्तुओं) की मात्रा में होने वाली वद्धि के रूप में व्यक्त करते हैं तो उसे सीमान्त भौतिक उत्पादकता कहा जाता है। **प्रो. एम. जे. उल्मर** (M. J. Ulmer) के शब्दों में, ''**अन्य सब बातों के समान रहने पर किसी एक साधन की अतिरिक्त इकाई का प्रयोग करने से कुल उत्पादन में जो वद्धि होगी उसे सीमान्त भौतिक उत्पादकता कहा जाएगा।**'' (Marginal Physical productivity may be defined as the addition to total production resulting from employment of one more unit of a factor of production, all other things being constant. **M.J. Ulmer**) उदाहरण के लिए, यदि एक श्रमिक लगाने से कपड़े का उत्पादन 5 मीटर होता है तथा दूसरा श्रमिक लगाने से कुल उत्पादन बढ़कर 9 मीटर हो जाता है तो दूसरे श्रमिक की सीमान्त भौतिक उत्पादकता (MPP)=9 मीटर–5 मीटर=4 मीटर कपड़ा होगा। श्रम की इकाई की सीमान्त भौतिक उत्पादकता को निम्नलिखित समीकरण द्वारा व्यक्त किया जा सकता:

$$MPP_n = TPP_n - TPP_{n-1}$$

यहाँ पर MPP_n = श्रम की nth इकाई की सीमान्त भौतिक उत्पादकता TPP_n = श्रम की इकाईयाँ लगाने पर कुल भौतिक उत्पादकता।

(**TPP_{n-1}** = श्रम की $_{n-}$ इकाइयां लगाने पर कुल भौतिक उत्पादकता।)

(2) सीमान्त आय या आगम उत्पादकता (Marginal Revenue Productivity) : सीमान्त आय उत्पादकता की धारणा का सम्बन्ध कुल आय में होने वाले परिवर्तन से है। **प्रो. उल्मर** के शब्दों में, **''अन्य सब बातें समान रहने पर किसी एक साधन की अतिरिक्त इकाई का प्रयोग करने से कुल आय में जो वद्धि होगी उसे सीमान्त आय उत्पादकता कहा जाएगा।''** (Marginal revenue productivity may be defined as the addition to total revenue resulting from employment of one more unit of a factor of production, all other things being constant.—M.J. Ulmer) को सीमान्त आय उत्पादकता **(MRP)** का अनुमान लगाने के लिए सीमान्त भौतिक उत्पादकता **(MPP)** को सीमान्त आय **(MR)** से गुणा कर दिया जाता है। अतएव **MRP =MPPxMR**

उदाहरण के लिए, यदि एक श्रमिक को काम पर लगाने से 25 रुपये मूल्य के कपड़े का उत्पादन होता है तथा दो श्रमिकों को काम पर लगाने से 45 रुपये मूल्य के कपड़े का उत्पादन होता है तो दूसरे श्रमिक की **सीमान्त आय उत्पादकता** (MRP) 45 रुपये–25 रुपये=20 रुपये।

3. सीमान्त उत्पादकता का मूल्य (Value of Marginal Productivity) : एक साधन की सीमान्त भौतिक उत्पादकता **(MPP)** को उस साधन द्वारा उत्पादित वस्तु की कीमत (AR) से गुणा करने से जो आय बढ़ती है, उसे सीमान्त उत्पादकता का मूल्य (VMP) कहा जाता है। **प्रो. फर्गुसन** के अनुसार, ''**एक परिवर्तनशील उत्पादन के साधन की सीमान्त भौतिक उत्पादकता को सम्बन्धित वस्तु की बाजार कीमत से गुणा करने पर सीमान्त उत्पादकता के मूल्य का ज्ञान होता है।**''

(The Value of Marginal Product of a variable factor is equal to its marginal product multiplied oby the market price of the commodity in question.—Ferguson) अतएव

VMP=(MPP) × (AR)

उदाहरण के लिए, यदि कपड़े की कीमत 5 रुपये प्रति मीटर है तथा दूसरे श्रमिक की सीमान्त भौतिक उत्पादकता 4 मीटर है तो **सीमान्त भौतिक उत्पादकता का मूल्य** (VMP)=40 × 5=20 रुपये होगा।

यह ध्यान रखना चाहिए कि **पूर्ण प्रतियोगिता** की अवस्था में फर्म के लिए बिक्री के सभी मात्राओं के लिए कीमत स्थिर होती है तथा सीमान्त आय (MR) तथा औसत आय या कीमत (AR or Price) बराबर होते हैं अर्थात् MR=AR। इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) तथा सीमान्त भौतिक उत्पादकता का मूल्य (VMP) भी बराबर होंगे अर्थात् MRP=VMP। परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) तथा सीमान्त भौतिक उत्पादकता काा मूल्य (VMP) भी अलग–अलग होगा।

सीमान्त उत्पादकता के विभिन्न प्रकारों को निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता हैः–

Table 6.1 : Various Types of Marginal Product Under Perfect Competition

Unit of Labour	Total Product in Metre	Marginal Physical Product in Metre	Price Per metre AR=MR	Marginal Revenue Product MRP = MPP× MR	Value of Marginal Product VMP = MPP×AR
			Rs.	Rs.	Rs.
1	5	–	5	–	–
2	9	4	5	20	20
3	12	3	5	15	15
4	14	2	5	10	10
5	15	1	5	5	5

तालिका 6.1 से ज्ञात होता है कि जब एक श्रमिक को काम पर लगाया जाता है तो कुल उत्पादन 5 मीटर होता है, जब दो श्रमिकों को काम पर लगाया जाएगा तो कुल उत्पादन 9 मीटर होगा। इस प्रकार दूसरे श्रमिक की सीमान्त भौथ्तक उत्पादकता 4 मीटर होगी। तालिका से ज्ञात होता है कि जैसे–जैसे श्रमिकों की संख्या बढ़ाई जाती है, उनकी सीमान्त भौतिक उत्पादकता कम होती जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में वस्तु की कीमत अर्थात् औसत आय (AR) तथा सीमान्त (MR) बराबर होते हैं। इसलिए श्रमिक की सीमान्त आय उत्पादकता तथा सीमान्त उत्पादकता का मूल्य बराबर होगा जैसे दूसरे श्रमिक की सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) 20 रुपये है तो सीमान्त उत्पादकता का मूल्य (VMP) भी 20 रुपये ही है।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की व्याख्या

(Explanation of the Marginal Productivity Theory)

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त के अनुसार पूर्ण प्रतियोगिता तथा पूर्ण रोजगार की अवस्था में उत्पादन में उत्पादन के प्रत्येक साधन को उनकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर कीमत प्राप्त होगी। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में साधन की कीमत उद्योग द्वारा निर्धारित की जाएगी। उद्योग द्वारा निर्धारित साधन कीमत पर फर्म यह तय करेगी कि किसी साधन की उस संख्या को काम पर लगाया जाएगा जिस पर उस साधन की कीमत उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर हो जाती है। अतएव एक उद्योग की दष्टि से यह सिद्धान्त, '' **साधन कीमत सिद्धान्त है''** परन्तु एक फर्म की दष्टि से यह सिद्धान्त रोजगार का सिद्धान्त तथा साधन की माँग का सिद्धान्त है।

प्रो. ब्लाग के अनुसार, ''**सीमान्त का सिद्धान्त एक उद्योग के स्तर पर, यदि साधन की पूर्ति दी हुई है, तो यह साधन कीमत का सिद्धान्त है, तथा एक फर्म के स्तर पर यदि साधन की कीमत दी हुई है तो यह साधन के रोजगार का सिद्धान्त है।''** (The marginal productivity theory is a theory of factor pricing on industry's level, the supply of factor to the industry being given, for the firm it is employment theory, the rate of factor pricing being given.—M. Blaug)

एक उद्योग के दष्टिकोण से सीमान्त उत्पादकता के सिद्धान्त का विश्लेषण
(Anlysis of Marginal Productivity Theory from the Point of View of an Industry)

पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में किसी साधन की कीमत, उद्योग सम्बन्धी माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। **साधन कीमत उस स्तर पर निर्धारित होती है जिस पर उसकी माँग और पूर्ति बराबर होती है। सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त पूर्ण रोज़गार की मान्यता पर आधारित है। इस स्थिति में उत्पादन के साधन की पूर्ति को स्थिर माना गया है। अतएव साधन की कीमत, माँग द्वारा निर्धारित की जाएगी। हम जानते हैं कि किसी साधन की माँग उसकी सीमान्त उत्पादकता द्वारा निर्धारति की जाती है।** इसलिए पहले हमें एक उद्योग अर्थव्यवस्था के लिए किसी **साधन की माँग वक्र या सीमान्त उत्पादकता वक्र का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।**

एक उद्योग बहुत सी फर्मों का समूह होता है। अतएव एक उद्योग की किसी साधन सम्बन्धी माँग वक्र का अनुमान उस उद्योग की फर्मों की माँग के द्वारा लगाया जा सकता है। एक फर्म के लिए किसी साधन का सीमान्त आगम उत्पादकता (MRP) वक्र उसकी **माँग वक्र** (Demand Curve) ही होती है। इसका कारण यह है कि उत्पादक श्रम की सीमान्त आगम उत्पादकता के आधार पर ही श्रम की माँग करता है तथा केवल उतने ही श्रमिकों को रोजगार प्रदान करेगा जिससे कि श्रमिकों की सीमान्त आगम उत्पादकता तथा मजदूरी की दर बराबर रहे। रेखाचित्र नं. 6.1 **(A)** तथा **(B)** में श्रम की सीमान्त उत्पादकता, श्रम की मज़दूरी दर तथा श्रम की माँग के सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है। स्पष्ट है कि रेखाचित्र नं. 6.1(A) में श्रम की माँग वक्र DL तथा रेखाचित्र नं. 6.1(B) में एक सीमान्त आगम वक्र MRP है।

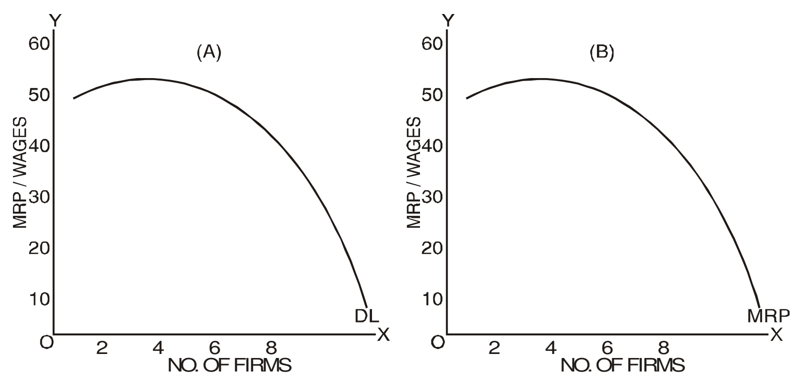

चित्र 6.1

यह माँग वक्र इस मान्यता पर आधारित है कि साधन विशेष की कीमत में परिवर्तन होने पर फर्म विशेष तथा अन्य फर्में उत्पादन की मात्रा में परिवर्तन नहीं करेंगी। परन्तु वास्तविक रूप में ऐसा नहीं होता। अगर मज़दूरी की दर कम हो जाती है तो फर्म विशेष अपने लाभ के उद्देश्य को अधिकतम करने के उद्देश्य से अधिक मज़दूरों को काम पर लगाएगी। इसी प्रकार दूसरी फर्में भी अधिक संख्या में मजदूरों को काम पर लगाकर उत्पादन बढ़ाएँगी। परिणामस्वरूप बाज़ारों में वस्तु विशेष की पूर्ति बढ़ेगी तथा कीमत कम हो जाएगी। ऐसी परिस्थिति में सीमान्त वक्र अपने मूल स्थान से हटकर मूल बिन्दु की ओर खिसक जाएगा। रेखाचित्र नं. 6.2 में इसे स्पष्ट किया गया है।

रेखाचित्र नं. 6.2 द्वारा स्पष्ट होता है कि MRP_1 प्रारम्भिक सीमान्त आय उत्पादकता वक्र है। जब मजदूरी की दर OW है तथा श्रमिकों की माँग OA (WL) है। यदि मजदूरी की दर OW से कम होकर OP हो जाती है तो एक फर्म अपने लाभ को अधिकतम उद्देश्य से अधिक श्रमिक लगाकर उत्पादन बढ़ाएगी। सभी फर्मों द्वारा ऐसा करने पर बाजार में वस्तु विशेष की पूर्ति में वद्धि होगी तथा कीमत कम होगी। इसके फलस्वरूप सीमान्त आय उत्पादकता भी कम हो जाएगी। परिणामस्वरूप सीमान्त आय उत्पादकता वक्र बायीं ओर खिसक कर MRP_2 हो जाएगी। MRP_2 वक्र से ज्ञात होता है कि

OP मजदूरी की दर पर श्रम की माँग OA से बढ़कर OM (PN) हो जाएगी। इस स्थिति में बिन्दु L तथा N को मिलाने वाली वक्र फर्म की साधन के लिए **सीमान्त उत्पादकता वक्र** (Marginal Productivity Curve) या माँग वक्र होगी। उद्योगों की माँग वक्र ज्ञात करने के लिए हमें सभी माँग वक्रों का **समस्तर जोड़** (Lateral Summation) लेना होता है। पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति में क्योंकि फर्मों की संख्या स्थिर नहीं होती, उनके सीमान्त उत्पादक वक्रों का समस्तर जोड़ नहीं लगाया जा सकता परन्तु यह कहा जा सकता है कि उद्योग का माँग वक्र एक फर्म के माँग वक्र की तरह ऊपर से नीचे की ओर झुका होगा।

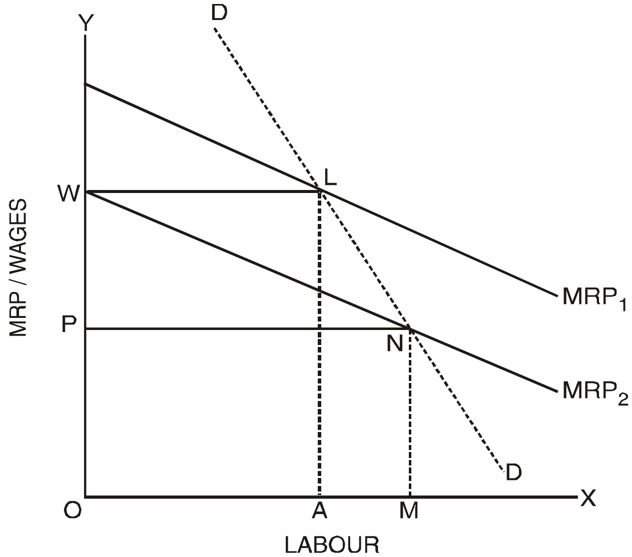

चित्र 6.2

एक उद्योग की किसी साधन के लिए माँग वक्र तथा पूर्ति वक्र जिस बिन्दु पर एक–दूसरे को काटेगी उस बिन्दु द्वारा उस साधन की कीमत निर्धारित होगी। **उद्योग के लिए साधन की पूर्ति को स्थिर माना गया है। इसलिए साधन की कीमत मुख्य रूप से माँग वक्र द्वारा निर्धारित होगी।** अर्थात् सीमान्त उत्पादकता के बराबर तय होगी। इसे रेखाचित्र नं. 6.3 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

रेखाचित्र नं. 6.3 में OX अक्ष पर श्रम की संख्या तथा OY अक्ष पर मज़दूरी की दर तथा श्रम की सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) प्रकट की गई है। DD वक्र उद्योग के लिए श्रम की माँग वक्र या सीमान्त उत्पादकता वक्र है, इसका ढलान ऊपर से नीचे की ओर है।

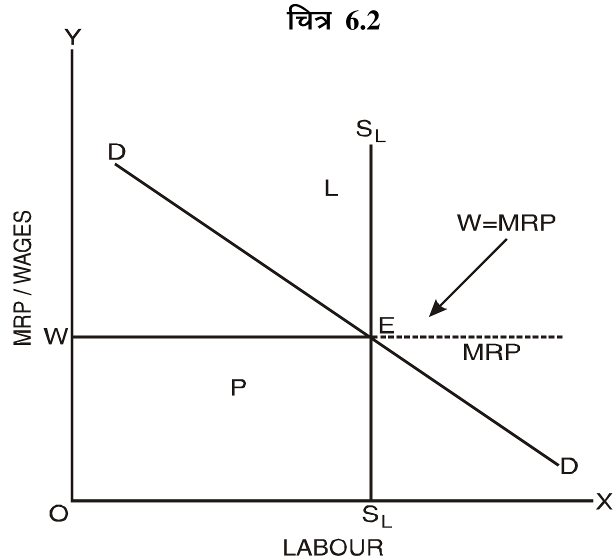

चित्र नं. 6.3

$S_L S_L$ श्रम का पूर्ति वक्र है। यह OY अक्ष के समान्तर है। इससे ज्ञात होता है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति में श्रम की पूर्ति OS_L के बराबर स्थिर है। श्रम की माँग वक्र तथा पूर्ति वक्र 'E' बिन्दु पर एक–दूसरे को काट रहे हैं। अतएव 'E' बिन्दु सन्तुलन बिन्दु है, इस बिन्दु पर श्रम की माँग तथा पूर्ति दोनों बराबर हैं। बिन्दु 'E' से ज्ञात होता है कि मज़दूरी की दर OW निर्धारित होगी। यह मजदूरी की दर या साधन कीमत OW श्रम की सीमान्त उत्पादकता के बराबर है अर्थात्

साधन कीमत (OW) =सीमान्त आगम उत्पादकता=MRP= (ES_L)

अतएव पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में साधन कीमत उद्योग द्वारा निर्धारित होती है। इस कीमत पर फर्म की माँग करती है। अतएव साधन की माँग का अनुमान फर्म द्वारा लगाया जा सकताा है।

एक फर्म के दष्टिकोण से सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का विश्लेषण
(Analysis of the Marginal Productivity Theory from the Point of View of a Firm)

पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में उत्पादन के साधन की कीमत जैसे मज़दूरी की दर उद्योग द्वारा अर्थात् सामूहिक माँग तथा पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित होती है। फर्म को केवल यह तय करना पड़ता है कि कितने श्रमिकों को रोजगार प्रदान करना है। इस सिद्धान्त के अनुसार एक फर्म पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में किसी भी साधन की उस मात्रा को काम पर लगाएगी जिस पर उस साधन की कीमत तथा सीमान्त उत्पादकता मूल्य के बराबर हो जाए। अतएव एक फर्म के दष्टिकोण से इस सिद्धान्त द्वारा यह ज्ञात होता है कि फर्म द्वारा किसी साधन की कितनी माँग की जाएगी।

इसलिए इस सिद्धान्त को **साधन माँग का सिद्धान्त** (Theory of Factor Demand) भी कहा जाताा है। अन्य बातें समान रहने पर एक फर्म जैसे–जैसे श्रमिकों को रोज़गार देती जाएगी, तो **श्रमिकों की सीमान्त भौतिक उत्पादकता कम** होती जाएगी। इसके फलस्वरूप श्रम द्वारा उत्पादित वस्तु की कीमत पूर्ण प्रतियोगिता में स्थिर रहने के कारण श्रम की सीमांत भौतिक उत्पादकता में कमी के साथ–साथ सीमान्त आय उत्पादकता भी कम होती जाएगी। **एक फर्म अधिकतम लाभ** प्राप्त करने के उद्देश्य से केवल उस सीमा तक श्रमिकों को रोजगार पर लगाएगी जिस पर श्रम की सीमान्त आय उत्पादकता तथा श्रम की कीमत या मजदूरी दर बराबर हो जाए। यदि फर्म उस सीमा तक श्रमिकों को रोजगार पर लगाएगी जिस पर उनकी सीमान्त आय उत्पादकता उनकी मजदूरी से कम है तो फर्म की हानि होगी। इस सिद्धान्त की तालिका नं. तथा रेखाचित्र 4 द्वारा व्याख्या की गई है।

Table 6.2 : Marginal Productivity Schedule

श्रमिकों की संख्या	सीमान्त भौतिक उत्पादकता (MPP)	कीमत AR=MR	सीमान्त आय उत्पादकता (MRP) (रुपये)	मजदूरी दर (रुपये)
1	10	2	10×2=20	8
2	8	2	8×2=16	8
3	6	2	6×2=12	8
4	4	2	4×2=8	8
5	2	2	2×2=4	8

तालिका नं. 6.2 से ज्ञात होता है कि मजदूरी दर 8 रुपये प्रति श्रमिक है। वस्तु की कीमत 2 रुपये प्रति इकाई है। जब फर्म एक श्रमिक को काम पर लगाती है तो उसकी **सीमान्त भौतिक उत्पादकता** (MPP) 10 इकाई होती हैं सीमान्त भौतिक उत्पादकता को वस्तु की कीमत से गुणा करने पर **सीमान्त आय उत्पादकता** या सीमान्त उत्पादकता का मूल्य (MRP or VMP) 10×2=20 रुपये ज्ञात होता है। इसी प्रकार दूसरे श्रमिक की सीमान्त आय उत्पादकता 16 रुपये, तीसरे श्रमिक की 12 रुपये तथा चौथे श्रमिक की 8 रुपये होगी। चौथे श्रमिक की सीमान्त आय उत्पादकता तथा उसे दी जाने वाली मजदूरी बराबर है। अतः फर्म की अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए 4 श्रमिकों को ही काम पर लगाएगी। यदि फर्म पांचवें श्रमिक को काम पर रखेगी तो फर्म को 4 रुपये की हानि उठानी पड़ेगी, क्योंकि पाँचवे श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता 4 रुपये है। जबकि फर्म को उसे बाजार में प्रचालित मजदूरी अर्थात् 8 रुपये देनी पड़ेगी। इस प्रकार फर्म को 4 रुपये की हानि होगी। अतः फर्म अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए उत्पादन के किसी भी साधन की उस सीमा तक माँग करेगी जिस पर उस साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा उस साधन की कीमत बराबर हो जाए।

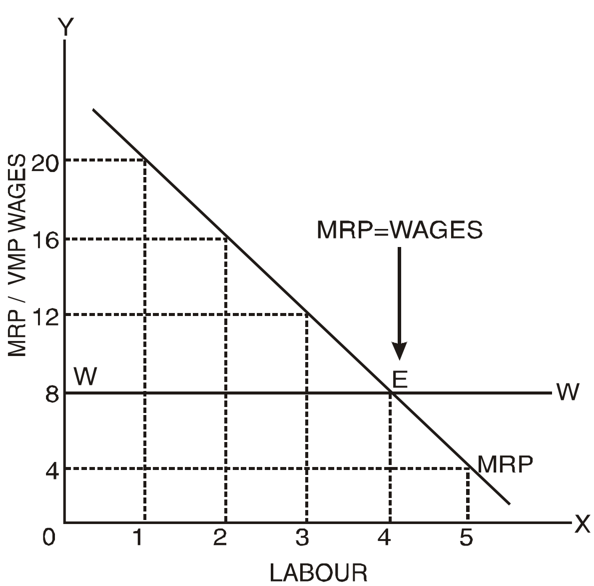

चित्र नं. 6.4

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त को रेखाचित्र नं. 6.4 द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है। चित्र नं. 4 में OX अक्ष पर श्रमिकों की संख्या तथा OY अक्ष पर श्रमिकों की मजदूरी तथा सीमान्त आय प्रकट की गई है। MRP सीमान्त उत्पादकता वक्र तथा WW मजदूरी रेखा है। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में मजदूरी की दर स्थिर रहेगी। इसलिए WW रेखा OX अक्ष के समानान्तर है। सीमान्त आय उत्पादकता MRP वक्र नीचे की ओर झुकी हुई है। यह वक्र E बिन्दु पर मजदूरी रेखा CW को काट रही है। इसलिए E बिन्दु (MRP=Wage

Rate=8 रुपये) संतुलन बिन्दु होगा। बिन्दु E से ज्ञात होता है कि उत्पादक 8 रुपये मजदूरी पर चार श्रमिकों की माँग करेगा। यदि उत्पादक पाँच श्रमिकों को काम पर लगाएगा तो उसे पाँचवें श्रमिक से केवल 4 रुपये के बराबर सीमान्त आय उत्पादकता प्राप्त होगी जबकि उसे 8 रुपये मज़दूरी देनी पड़ेगी। इस प्रकार फर्म को पाँचवें श्रमिक को काम पर लगाने से 4 रुपये की हानि उठानी पड़ेगी। अतएव **इस सिद्धान्त के अनुसार, उत्पादन के साधन की माँग उस सीमा तक की जाएगी जिस पर सीमान्त उत्पादकता तथा साधन की कीमत बराबर हो जाए।** एक फर्म के लिए विभिन्न साधनों का सर्वोत्तम संयोग वह होगा जिस पर

$$\frac{MRP_A}{P_A} = \frac{MRP_B}{P_B} = \ldots\ldots\ldots\ldots \frac{MRP_n}{P_n}$$

फर्मों की माँग के आधार पर उद्योग की माँग कर अनुमान लगाया जाता है।

आलोचनाएँ (Criticism)

साधन कीमत की सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त की **हाब्सन, वीजर, फ्रेजर, केन्ज़** आदि कई अर्थशास्त्रियों ने मुख्य रूप से निम्नलिखित आलोचनाएँ हैं:

(1) अवास्तविक मान्यताएँ (Unrealistic Assumptions)—सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त कई अवास्तविक मान्यताओं जैसे पूर्ण प्रतियोगिता, पूर्ण गतिशीलता, पूर्ण रोजगार आदि पर निर्भर करता है। प्रत्येक अर्थव्यवस्था में, जैसा कि **श्रीमती जॉन रोबिन्सन, चेम्बरलेन** आदि का विचार है कि पूर्ण प्रतियोगिता के स्थान पर अपूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है। साधनों की गतिशीलता भी अपूर्ण होती है। संसार के अधिकतर देशों में पूर्ण रोजगार की अवस्था नहीं पाई जाती है। अतएव इस सिद्धान्त का व्यावहारिक महत्त्व बहुत कम हो जाता है।

(2) असमान साधन (Heterogeneous Factors)—साधन कीमत के इस सिद्धान्त की यह मान्यता है कि प्रत्येक साधन की विभिन्न इकाइयाँ एक **समान (Homogeneous)** होती है, गलत है। वास्तविक जीवन में प्रत्येक साधन की विभिन्न इकाइयों में असमानता पाई जाती है जैसे सभी श्रमिक एक जैसे कार्यकुशल नहीं होते।

(3) अविभाज्य साधन (Indivisible Factors)—सीमान्त उत्पादकता के सिद्धान्त की यह मान्यता भी वास्तविक नहीं है कि साधनों को छोटे–छोटे भागों में विभाजित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, हम कई मशीनों को छोटे–छोटे भागों में नहीं बाँट सकते हैं। इस प्रकार उनकी सीमान्त उत्पादकता का अनुमान लगाना कठिन हो जाता है।

(4) सीमान्त उत्पादकता के माप में कठिनाइयाँ (Difficulties in the Measurement of Marginal Productivity) : **प्रो. हाब्सन** ने अपनी पुस्तक 'The Industrial System' में इस सिद्धान्त की कटु आलोचना करते हुए कहा है कि सीमान्त उत्पादकता को कई कारणों से मापना सम्भव नहीं है। सीमान्त उत्पादकता को तभी मापा जा सकता है जब उत्पादन के अन्य साधनों की संख्या में बिना परिवर्तन किए हुए केवल एक साधन जैसे श्रमिकों की संख्या में परिवर्तन करके उत्पादन को बढ़ाया जा सके, परन्तु अधिकतर दशाओं में उत्पादन बढ़ाने के लिए श्रमिकों की संख्या के साथ–साथ कच्चे माल, औजार, मशीनरी आदि की मात्रा को बढ़ाना भी आवश्यक है।

(5) एकपक्षीय (One Sided)—**मार्शल, फ्रिडमैन, ब्लाग** आदि अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि यह सिद्धान्त केवल माँग पक्ष की ही व्याख्या करता है तथा पूर्ति को स्थिर मान लेता है। अल्पकाल में तो यह सम्भव है कि किसी साधन की पूर्ति स्थिर हो तथा केवल सीमान्त उत्पादकता अर्थात् माँग द्वारा ही उसकी कीमत निर्धारित हो परन्तु दीर्घकाल में प्रत्येक साधन की पूर्ति में परिवर्तन आता रहता है। अतएव साधन कीमत के निर्धारण पर माँग तथा पूर्ति दोनों का ही प्रभाव पड़ेगा जबकि यह सिद्धान्त केवल माँग के द्वारा ही साधन कीमत को निर्धारित करने का प्रयत्न करता है, अतएव यह एक पक्षीय है।

(6) दीर्घकालीन स्थिर अर्थव्यवस्था (Long Term Stationary Economy) : **प्रो. क्लार्क** द्वारा प्रतिपादित सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त दीर्घकालीन स्थिर अवस्था की मान्यता पर निर्भर है। इस धारणा के अनुसार अर्थव्यवस्था में दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगी सन्तुलन की अवस्था पाई जायेगी। इस अवस्था में साधनों की कीमत उनकी सीमान्त तथा औसत उत्पादकता के बराबर तय होगी। परन्तु वास्तविक जीवन में **गत्यात्मक** (Dynamic) अवस्था पाई जाती है। इस अवस्था में आर्थिक तत्त्वों जैसे जनसंख्या, रुचि, उत्पादन, तकनीक आदि में परिवर्तन आते रहते हैं। इसके फलस्वरूप सीमान्त उत्पादकता में भी परिवर्तन आता रहता है। अतएव सन्तुलन की स्थिति प्राप्त करनी सम्भव नहीं होती।

(7) साधन कीमत निर्धारण में असफल (Fails to Determine Factor Pricing) : **प्रो. फैलनर** के अनुसार सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त साधन की कीमत निर्धारित नहीं करता है। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में प्रत्येक फर्म को साधन की प्रचलित कीमत देनी पड़ती है। वह कीमत उद्योग द्वारा साधन की माँग तथा पूर्ति के सन्तुलन बिन्दु पर तय की जाती है। इस कीमत के आधार पर एक फर्म यह तय करती है कि एक साधन की केवल उतनी मात्रा को रोजगार प्रदान करना है जिस पर साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा कीमत बराबर हो जाए। अतएव यह सिद्धान्त एक साधन की कीमत को निर्धारित नहीं करता ब्लकि केवल उसकी माँग को ही निर्धारित करता है।

(8) कारण तथा परिणाम (Cause and Effect)—**प्रो. क्लार्क** के अनुसार प्रत्येक साधन की कीमत पर उसकी सीमान्त उत्पादकता का प्रभाव पड़ता है अर्थात् सीमान्त उत्पादकता कारण है तथा साधन कीमत परिणाम है। परन्तु **प्रो. वेबल्स** (Prof. Webls) के अनुसार वास्तव में साधन कीमत का भी सीमान्त उत्पादकता पर प्रभाव पड़ता है। एक साधन की अधिक कीमत देकर उसकी कार्यकुशलता में वद्धि करके सीमान्त उत्पादकता को बढ़ाया जा सकता है। अतएव साधन कीमत कारण तथा सीमान्त उत्पादकता परिणाम हो सकती है।

(9) शोषण का सिद्धान्त (Theory of Exploitation) : **प्रो. वोहम बेवरक (Prof. Bohm Bawrick)** ने सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि इस सिद्धान्त के अनुसार सीमान्त उत्पादकता के बराबर साधन कीमत मिलने पर भी साधन की अन्तर सीमान्त इकाइयों (Intra-Marginal Units) का शोषण होता है। इसका कारण यह है कि सीमान्त उत्पादकता पर घटते प्रतिफल के नियम (Law of Diminishing Returns) के लागू होने के कारण जैसे–जैसे किसी साधन की अधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाता है, उनकी सीमान्त उत्पादकता कम होती जाती है। इसके फलस्वरूप उनकी कीमत भी कम हो जाती है। इस प्रकार अन्तर सीमान्त इकाइयों की सीमान्त उत्पादकता सीमान्त इकाई से अधिक होने पर भी उन्हें सीमान्त इकाई के बराबर ही कीमत मिलती है, अतएव उनका शोषण होता है।

(10) रोजगार स्तर तथा साधन कीमत के सम्बन्ध में गलत निष्कर्ष (Work Conclusions regarding Factor Pricing and Employment) : **लार्ड केन्ज** के अनुसार इस सिद्धान्त का यह निष्कर्ष भी गलत है कि साधन कीमतों में कमी करके साधन की अधिक मात्रा को रोजगार प्रदान किया जा सकता है। वास्तव में साधन कीमत, जैसे मज़दूरी में कमी होने से मजदूरों की आय कम होगी, इस कारण वस्तुओं की माँग कम होगी। इसके फलस्वरूप साधनों की माँग भी कम हो जाएगी। अतएव साधन कीमत में कमी होने पर साधन की इकाइयों को मिलने वाला रोजगार बढ़ने के स्थान पर कम हो जाएगा।

(11) कुल उत्पादन साधनों की सीमान्त उत्पादकता के जोड़ से अधिक होता है (Total Product is more than the Summation of the Marginal Productivity of Factors) : इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार पुरस्कार दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि कुल उत्पादन सभी साधनों की सीमान्त उत्पादकता के जोड़ के बराबर होना चाहिए। परन्तु **हाब्सन** के अनुसार जब बढ़ते प्रतिफल का नियम लागू हो रहा हो तो कुल उत्पादन सीमान्त उत्पादकता के जोड़ से अधिक होता है। यह अधिक उत्पादन सब साधनों के सहयोग के कारण होता है।

साधन कीमत का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of Factor Pricing)

साधन कीमत के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक साधन की कीमत उस की माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होती **प्रो. लिप्सी** ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि, **''उत्पादन के साधनों का कीमत सिद्धान्त, कीमतों के सिद्धान्त की एक विशेष अवस्था है। हम पहले साधनों के माँग के सिद्धान्त का विकास करते हैं, उसके पश्चात् साधनों की पूर्ति के सिद्धान्त का विकास करते हैं और अन्त में इन्हें सन्तुलन कीमतों तथा मात्राओं के निर्धारण के सिद्धान्त में मिला देते हैं।''** (The Theory of factor price is just a special case of the theory of price. We first develop a theory of the demand for factors then a theory of the supply of the factors and finally combine them into a theory of determination of equilibrium price and Quantities.—Lipsey and Stenier) अतएव साधन कीमत निर्धारण का अध्ययन करने के लिए साधन की माँग तथा पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्त्वों का अध्ययन करना आवश्यक है।

(1) **साधनों की माँग** (Demand for the Factors)

साधनों की माँग **व्युत्पन्न माँग** (Derived Demand) है। इनकी माँग इनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग पर निर्भर करती है। कपड़े के कारखाने में श्रमिकों की माँग कपड़े की माँग कम है तो श्रमिकों की माँग भी कम होगी। एक फर्म लाभ प्राप्त करने की दष्टि से उत्पादन करती है, अतएव वह साधन को काम पर लगाते समय उस साधन की उत्पादकता को अवश्य ध्यान में रखती है। किसी साधन की अतिरिक्त इकाई का प्रयोग करने से अन्य साधन स्थिर रहने पर कुल आय उत्पादकता में जितनी वद्धि होती है, उसे साधन की सीमान्त आय उत्पादकता कहा जाता है। एक फर्म द्वारा किसी साधन की माँग उस सीमा तक ही की जाती है जिस पर उस साधन की सीमान्त कीमत तथा सीमान्त आय उत्पादकता बराबर हो जाती है। **अतएव सीमान्त उत्पादक वक्र ही एक फर्म के लिए किसी साधन का माँग वक्र होता है।**

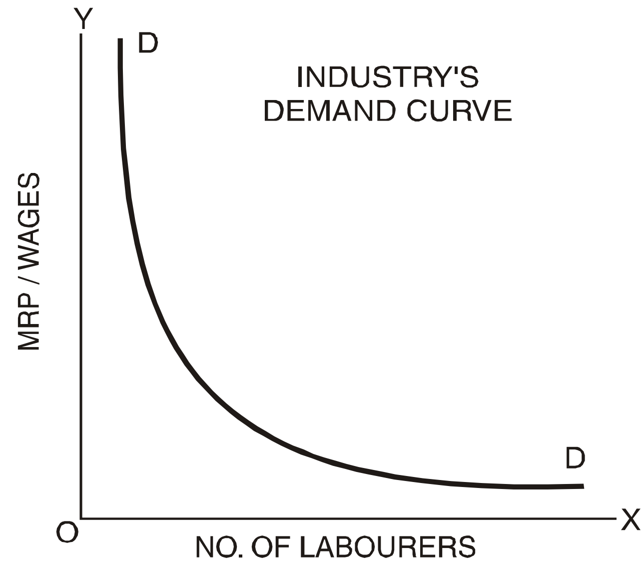

चित्र 6.5

एक उद्योग का साधनों के लिए माँग वक्र फर्मों के माँग वक्र का समस्तर जोड़ नहीं है। इसका कारण यह है कि जब मजदूरी की दर में परिवर्तन होता है तो वस्तुओं की लागत में भी परिवर्तन होता है। इसके फलस्वरूप वस्तु की कीमत अर्थात् औसत आय और सीमान्त आय में भी परिवर्तन होगा। इसके फलस्वरूप सीमान्त आय उत्पादकता वक्र भी अपनी वर्तमान स्थिति से ऊपर या नीचे की ओर चली जाएगी। इसके फलस्वरूप फर्मों की साधन के लिए सन्तुलन माँग बिन्दु अपने स्थान से नई सीमान्त उत्पादकता वक्र पर ऊपर या नीचे की ओर खिसक जाएगा। इन सन्तुलन बिन्दुओं को जोड़कर फर्म की माँग वक्र ज्ञात की जा सकती है। एक उद्योग की विभिन्न फर्मों के माँग वक्रों को जोड़कर उद्योग के माँग वक्र का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, जैसा रेखाचित्र 6.5 में दिखाया गया है। रेखाचित्र 6.5 में OX अक्ष पर श्रम तथा OY अक्ष पर मजदूरी और सीमान्त आय उत्पादकता को प्रकट किया गया है। DD उद्योग की साधन माँग वक्र है। इसका ढलान ऊपर से नीचे की ओर है। उत्पादन के साधन की मांग पर उनकी **माँग की लोच** (Elasticity oif Demand) का भी काफी प्रभाव पड़ता है। यदि साधन की माँग लोचदार है तो साधन की कीमत में थोड़ी–सी भी कमी होने पर उसकी माँग में काफी वद्धि होगी तथा कीमत में थोड़ी सी वद्धि होने पर माँग में काफी कमी होगी। इसके विरीत यदि साधन की माँग बेलाचदार है तो उसकी कीमत में बहुत अधिक वद्धि होने पर उसकी माँग में थोड़ी–सी कमी होगी। अतएव उत्पादन के साधनों की कीमत में हाने वाले परिवर्तन का उनकी माँग पर पड़ने वाला प्रभाव साधनों की माँग की लोच पर निर्भर करता है। साधनों की माँग की लोच निम्नलिखित तथ्यों पर निर्भर करती हैः—

(1) उत्पादित वस्तु की माँग की लोच (Elasticity of the Product):— उतपादन के साधन की माँ **व्युत्पन्न** (Derived) होती है। प्रत्येक साधन की माँग किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए की जाती है। अतएव के साधन की लोच उस वस्तु की माँग की लोच पर निर्भर करती है जिसके उत्पादन में वह सहायक होती है, यदि उस वस्तु की माँग लोचदार है तो साधन की माँग भी लोचदार होगी। इसके विपरीत यदि उस वस्तु की माँग बेलोचदार है तो साधन की माँग भी बेलाचदार होगी।

(2) साधन की मात्रा (Quantity of the Factor):—साधन की माँग की लोच इस बात पर भी निर्भर करती है कि किसी वस्तु के उत्पादन पर किए जाने वाले कुल खर्च का कितना भाग उस साधन पर खर्च किया जाता है। यदि कुल लागत का उस साधन पर केवल थोड़ा–सा भाग खर्च किया जाता है तो उस साधन की माँग **बेलोचदार** होगी, अर्थात् कीमत के बढ़ने पर माँग में कोई विशेष कमी नहीं होगी। इसके विपरीत यदि किसी साधन पर उसके द्वारा उत्पादित वस्तु की कुल लागत का अधिक भाग खर्च किया जाता है तो उस साधन की माँग **लोचदार** होगी अर्थात् साधन की कीमत में थोडी–सी भी कमी आ जाने पर माँग में बहुत अधिक वद्धि होने की संभावना होगी।

(3) साधनों की प्रतिस्थापन्नता (Substitubility between Factors):— यदि एक साधन का दूसरे साधन से प्रतिस्थापन किया जा सकता है तो उस साधन की माँग लोचदार होगी। इसके विपरीत यदि उस साधन का किसी विशेष प्रयोग में दूसरे साधन से प्रतिस्थापन नहीं किया जा सकता तो उस साधता तो उस साधन की माँग बेलाचदार होगी।

संक्षेप में, उत्पादन के साधनों की माँग उनकी उत्पादकता के लिए की जाती है। अतएव साधन की माँग की ओर से उनकी कीमत पर साधन की सीमान्त उत्पादकता का प्रभाव पड़ता है।

(2) साधन की पूर्ति
(Supply of the Factor)

उत्पादन के विभिन्न साधनों की पूर्ति से अभिप्राय यह है कि एक निश्चित कीमत पर उस साधन की कितनी इकाइयां बाजार में बिकने के लिए उपलब्ध होती हैं। वस्तुओं से सम्बन्धित **पूर्ति के नियम** (Law of Supply) से ज्ञात होता है कि किसी वस्तु की कीमत बढ़ने पर उसकी पूर्ति बढ़ती है तथा कीमत कम होने पर उसकी पूर्ति कम होती है। परन्तु उत्पादन के सभी साधनों पर पूर्ति का यह नियम हर अवस्था में लागू नहीं होता। उत्पादन के साधनों की पूर्ति भिन्न–भिन्न तत्त्वों पर निर्भर करती हे अतएव हम विभिन्न साधनों की पूर्ति को प्रभावित करने वाले तत्त्वों का अध्ययन अलग–अलग करेंगे।

(1) भूमि की पूर्ति (Supply of Land)—एक अर्थव्यवस्था के लिए भूमि की पूर्ति **पूर्णतः बेलोचदार** (Perfectly Inelastic) होती है अर्थात् एक अर्थव्यवस्था में भूमि की कुल पूर्ति में कोई वद्धि नहीं की जा सकती। अर्थव्यवस्था में भूमि की पूर्ति **निःशुल्क** (Free) है, उसकी कोई उत्पादन लागत नहीं होती। एक उद्योग के लिए भूमि की पूर्ति उसकी **अवसर लागत** (Opportunity Cost) पर निर्भर करती है। यदि किसी उद्योग में दूसरे उद्योग की तुलना में पूर्ति की अवसर लागत बढ़ जाती है तो दूसरे उद्योगों के स्थान पर भूमि का उस उद्योग में अधिक प्रयोग किया जाने लगेगा। अतः एक उद्योग के लिए भूमि की पूर्ति वक्र नीचे से ऊपर की ओर उठती हुई होगी। अर्थात् कीमत के बढ़ने पर भूमि की पूर्ति बढ़ेगी तथा कीमत के कम होने पर भूमि की पूर्ति कम होगी। एक कर्म के लिए भूमि की पूर्ति **पूर्णतया लोचदार** (Perfectly Elastic) होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि उद्योग द्वारा निर्धारित कीमत पर फर्म कितनी भी भूमि का प्रयोग कर सकती है।

(2) श्रम की पूर्ति (Supply of Labour)—श्रम की पूर्ति से अभिप्राय यह है कि एक निश्चित मजदूरी दर पर एक श्रमिक कितने घण्टे के लिए अपना श्रम बेचने के लिए तैयार है। श्रम की पूर्ति अर्थात् काम के घण्टों और श्रम की मजदूरी में कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। साधारणतया यह देखा गया है कि यह निश्चित सीमा तक मजदूरी अर्थात् श्रम की कीमत बढ़ने पर श्रम की पूर्ति में वद्धि होती है। परन्तु मजदूरी की एक निश्चित सीमा के पश्चात् जैसे–जैसे मजदूरी बढ़ती जाती है श्रमिक काम के स्थान पर **आराम** (Leisure) को अधिक पसन्द करते हैं। इसलिए मजदूरी की दर बढ़ने पर श्रम की पूर्ति कम होती जाती है। श्रम का पूर्ति वक्र जैसा कि रेखाचित्र नं. 6.6 में दिखाया गया है, पीछे की ओर मुड़ा हुआ (Backward Sloping) होता है। रेखा चित्र नं. 6.6 में SS पीछे मुड़ा हुआ पूर्ति वक्र है। इससे प्रकट होता है कि OW तक मजदूरी बढ़ने पर श्रम की पूर्ति बढ़ रही है परन्तु जब मजदूरी की दर OW से बढ़कर OW हो जाती है तो श्रम की पूर्ति ON से कम होकर ON_1 हो जाएगी।

(3) पूँजी की पूर्ति (Supply of Capital)—पूँजी की पूर्ति बचत पर निर्भर करती है। पूँजी की कीमत को **ब्याज** (Interest) कहा जाता है। परम्परावादी अर्थशास्त्रियों का यह विचार था कि ब्याज की दर बढ़ने पर बचत की मात्रा बढ़ेगी तथा ब्याज की दर कम होने पर बचत की मात्रा कम होगी अतएव पूँजी का पूर्ति वक्र नीचे से ऊपर की ओर उठता हुआ होगा।

(4) उद्यमी की पूर्ति (Supply of Entrepeneurs)—उद्यमी की पूर्ति तथा उसकी कीमत अर्थात् लाभ में भी कोई निश्चित सम्बन्ध नहीं है। उद्यमी की पूर्ति लाभ के अतिरिक्त बहुत–से **अनार्थिक तत्त्वों (Non-economic Factors)** पर भी निर्भर करती है।

संक्षेप में, यह कहा जाता है कि साधनों की पूर्ति के सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम नहीं बनाया जा सकता। परन्तु साधारणतया विश्लेषण की सरलता की दष्टि से हम यह मान लेते हैं कि साधनों की पूर्ति वक्र का ढलान धनात्मक **(Positive)** अर्थात् ऊपर की ओर उठा हुआ होता है।

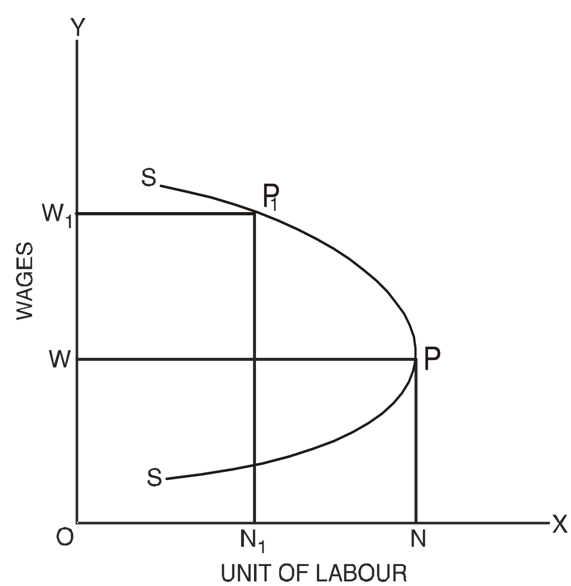

चित्र 6.6

साधन की कीमत का निर्धारण (Determination of Factor Price)

आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार, ''**उत्पादन के किसी भी साधन की कीमत वहीं तय होगी, जहाँ साधन की माँग और पूर्ति बराबर हैं अर्थात् सन्तुलन में है।**''

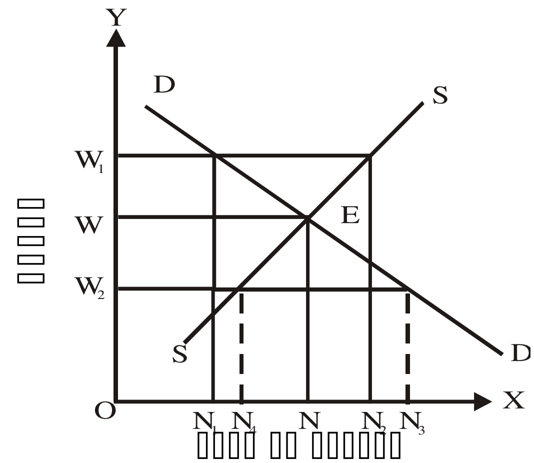

चित्र 6.7

पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में किसी साधन जैसे श्रम की कीमत जैसा कि रेखाचित्र 6.7 द्वारा दिखाया गया है, उसकी माँग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होगी। चित्र 6.7 में **OX** अक्ष पर श्रम की इकाइयाँ तथा **OY** अक्ष पर मजदूरी प्रकट की गयी है। **DD** श्रम की माँग वक्र तथा **SS** श्रम की पूर्ति वक्र है। श्रम की माँग वक्र **DD** तथा पूर्ति वक्र **SS** एक–दूसरे को **E** बिन्दु पर काट रहे हैं अतएव **E** बिन्दु माँग और पूर्ति के सन्तुलन को प्रकट कर रहा है। श्रम की मजदूरी **OW** निर्धारित होगी। मजदूरी की **OW** दर पर **ON** श्रमिकों को रोजगार प्राप्त होगा। यदि मजदूरी की दर बढ़कर **OW_1** हो जाती है तो श्रम की पूर्ति **ON_2** होगी तथा माँग कम होकर **ON_1** हो जाएगी। श्रम की पूर्ति के माँग से अधिक होने के कारण मजदूरी की दर कम होकर फिर **OW** हो जाएगी, इसके विपरीत यदि मजदूरी कम होकर **OW_2** हो जाती है तो श्रम की माँग **ON_3** होगी तथा पूर्ति कम होकर **ON_4** हो जाएगी। इसके फलस्वरूप मजदूरी की दर बढ़कर **OW** हो जाएगी। उत्पादन के साधनों की कीमत माँग तथा पूर्ति के सन्तुलन बिन्दु पर निर्धारित होती है।

संक्षेप में, साधन कीमत माँग तथा पूर्ति के सन्तुलन बिन्दु पर निर्धारित होती है। साधन की पूर्ति स्थिर रहने पर माँग के बढ़ने पर कीमत बढ़ती है तथा माँग के कम हो जाने पर कीमत कम हो जाती है। साधन माँग पर **सीमान्त आय उत्पादकता** का प्रभाव पड़ता है। इसके निर्धारित साधन की माँग के स्थिर रहने पर साधारणतया पूर्ति के बढ़ने पर साधन की कीमत कम होती है तथा पूर्ति के कम हो जाने पर कीमत बढ़ जाती है। साधनों की पूर्ति पर उनकी अवसर लागत कम प्रभाव पड़ता है।

एकाधिकार में मजदूरी निर्धारण
(Wage Determination Under Monopoly)

एकाधिकार बाजार की वह स्थिति है जिसमें केवल आपूर्तिकर्ता (Supplier) होता है। श्रम बाजार में सभी श्रमिक अपने आपको एक मजदूर संघ (Trade Union) में संगठित कर सकते हैं। इस प्रकार मजदूर संघ का श्रम की पूर्ति में एकाधिकार होता है। मजदूर संघ को श्रम के लिए माँग वक्र का सामना करता है, क्योंकि श्रम की पूर्ति का मजदूर संघ एक मात्रा स्रोत होता है। मजदूर संघ, माँग वक्र पर उस बिन्दु का चुनाव कर सकता है, जहाँ यह मजदूरी का निर्धारण करेगा। मजूदरी का निर्धारण मजदूर संघ के लक्ष्य (Goal) पर निर्भर करेगा। मजदूर संघ के सामने तीन संभव चुनाव (Choice) हो सकते हैं, जिनको कि निम्नलिखित चित्र 6.8 द्वारा स्पष्ट किया गया हैः

चित्र 6.8

इस रेखाचित्र में श्रम की मात्रा को **OX-** अक्ष पर और मजदूरी को **OY-** अक्ष पर दिखाया गया है। **SS** श्रम की पूर्ति वक्र, **DD** माँग वक्र (या AR Curve) तथा **MR** सीमान्त आय वक्र है। मजदूरी निर्धारण की **तीन संभावनाएँ** हो सकते हैं। हम यह मान कर चलते हैं कि श्रम की कुल उपलब्ध पूर्ति OL_3 हैः

(i) अधिकतम कुल मजदूरी (Maximize Total Wages) मजदूर संघ श्रम की उतनी मात्रा की पूर्ति करे जिससे कि कुल मजदूरी **(WL)** अधिकतम हो। इस सम्बन्ध में मजदूर संघ श्रम की उस मात्रा की आपूर्ति करेगा जिस पर श्रम माँग से प्राप्त होने वाली 'सीमान्य आय' शून्य (Zero) है। श्रम की पूर्ति OL_1 तथा मजदूरी–दर OW_1 होगी। बिन्दु E_1 सन्तुलन बिन्दु होगा। जिस पर कि श्रम की माँग तथा पूर्ति बराबर है। परन्तु इस मजदूरी दर पर $L_1 L_3$ श्रमिक अभी भी बेरोजगार हैं।

(ii) अधिकतम कुल आर्थिक लगान (Maximise Total Economic Rent)—मजदूर संघ श्रम की उस मात्रा की भी आपूर्ति कर सकता है जिस पर रोजगार प्राप्त श्रमिकों को प्राप्त होने वाला आर्थिक लगान (मजदूरी–अवसर लागत) अधिकतम है। संघ को OW_2 मजदूर दर पर श्रम की OL_2 मात्रा की आपूर्ति करनी चाहिए। रेखाचित्र में बन्दु E_2 वांछित–मात्रा संयोग **(Desired Wage-Quantity Combination)** को प्रकट करता है।

श्रम की OL_2 मात्रा पर संघ द्वारा एक अतिरिक्त सदस्य या श्रमिक को लगाने से कुल मजदूरी में होने वाली वद्धि (सीमान्त आय) उस श्रमिक को बाजार में पूर्ति की लागत के बराबर हो जाए। OW_2 मजदूरी दर पर $L_2 L_3$ श्रमिक जो काम के इच्छुक हैं, वे बेरोजगार रह जाते हैं।

(iii) अधिकतर रोजगार (Maximise Employment)—मजदूर संघ OW_3 मजदूरी दर भी निश्चित कर सकता है। इस मजदूरी दर सभी श्रमिक अर्थात् OL_3 रोजगार प्राप्त कर लेंगे। यह वह मजदूरी दर है जिसका निर्धारण पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में भी होता है।

संक्षेप में, एकाधिकार में मजदूरी का निर्धारण एकाधिकारी के उद्देश्य पर निर्भर करेगा। यदि एकाधिकारी प्रतियोगी मजदूर दर से ऊँची मजदूरी दर निर्धारित करता है, तब कुछ बेरोजगारी बनी रहेगी।

एकाधिकारी कब मजदूरी बढ़ा सकता है?
(When can the Monopolist Get the Wages Raised?)

श्रम संघों (Trade Unions) के रूप में संगठित होकर श्रमिक अधिक मज़दूरी की माँग करते हैं। ट्रेड यूनियनें, हड़ताल, धरने, घेराव आदि उपायों द्वारा मालिकों को मजदूर बढ़ाने के लिए मजबूर करती हैं। परन्तु यूनियनें केवल एक सीमा तक मज़दूरी बढ़वाने में सफल हो सकती हैं। एक सीमा के पश्चात् यदि वे मज़दूरी बढ़वाने का प्रयत्न करेंगी तो मज़दूर बेरोजगार हो सकते हैं।

हम जानते हैं कि एक फर्म उतने श्रमिकों को ही रोजगार प्रदान करती है जिनकी सीमान्त आगम उत्पादकता **(MRP)** उनकी मज़दूरी के बराबर होती है। अतएव उद्योग में लगाये गये सीमान्त मज़दूर को दी गई मज़दूरी उसकी सीमान्त आगम उत्पादकता के बराबर होनी चाहिए। रोजगार के बढ़ने पर सीमान्त आगम उत्पादकता कम होती जाती है इसलिए सीमान्त आगम उत्पादकता वक्र का ढलान ऊपर से नीचे की ओर होता है। इन शर्तों के होने पर यूनियनें निम्नलिखित स्थितियों में मज़दूरी बढ़वा सकती हैंः

(1) जब मज़दूरी की वर्तमान दर सीमान्त आगम उत्पादकता से कम होती है (When existing wage rate is less than MRP_L): जब मजदूरी की वर्तमान दर मजदूरों के सीमान्त आगम से कम है **($W < MRP_L$)**। ट्रेड यूनियन, मालिकों को श्रमिकों की सीमान्त आगम उत्पादकता के बराबर मज़दूरी देने के लिए मजबूर कर सकती है **श्रीमती रॉबिन्सन** के अनुसार, वह स्थिति जिसमें **मज़दूरी की दर श्रम की सीमान्त आगम उत्पादकता में कम ($W < MRP$) होती है, श्रम के शोषण की स्थिति होती है।**

(2) उत्पादकता में वद्धि (Increase in Productivity)— यदि मज़दूरी की दर बढ़ने से उत्पादकता में वद्धि होती है तो ट्रेड यूनियन मालिकों को श्रम की वर्तमान सीमान्त आगम उत्पादकता से अधिक मज़दूरी देने के लिए बाध्य करने में सफल हो सकती हैं। इस स्थिति में वह मज़दूरी बढ़वाने में सफल हो जायेगी। चित्र 6.9 से ज्ञात होता है कि श्रम की MRP_L वक्र के ऊपर की ओर खिसकने अर्थात् श्रम की उत्पादकता बढ़ने के फलस्वरूप रोजगार में वद्धि होने पर भी मज़दूरी की दर में वद्धि सम्भव हो सकेगी। जब MRP_L ऊपर की ओर खिसक कर MRP_{L2} हो जाती है तो श्रम की माँग OL_1 से बढ़कर OL_2 हो गई है जबकि मज़दूरी की दर OW_1 से बढ़ कर OW_2 हो जाती है।

(3) बेलोचदार माँग (Inelastic Demand)—यदि श्रमिकों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की माँग बेलोचदार है तो उनकी मज़दूरी में वद्धि होने से वस्तु की कीमत में जो वद्धि होगी उसे कीमत वद्धि के रूप में उपभोक्ताओं पर टाला जा सकेगा। इस प्रकार मजदूरी में होने वाली वद्धि का भार मालिकों को नहीं उठाना पड़ेगा तथा यूनियनें मज़दूरी बढ़वाने में सफल हो जायेंगी।

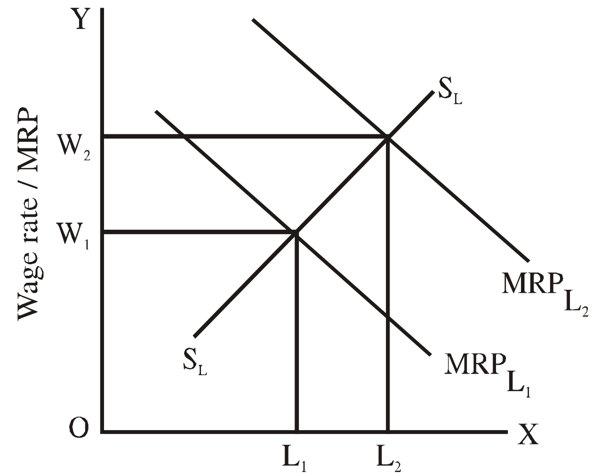

चित्र 6.9

(4) अन्य श्रमिकों की मज़दूरी में कमी की सम्भावना (Wages of Other Type of Labour Can be Squeezed)—यूनियनें उन श्रमिकों की मज़दूरी बढ़वाने में सफल हो सकती हैं जिनकी माँग बेलोचदार होती है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब उन मजदूरों (जिनकी माँग लोचदार है) की मज़दूरी को कम किया जा सके।

(5) अन्य साधनों की कीमत में कमी की सम्भावना (When Other Factor Payment can be Squeezed)—यदि अन्य साधनों के शोषण अर्थात् उनकी कीमत कम किए जाने की सम्भावना है तो यूनियनें मजदूरी में वद्धि करा सकेंगी। यह तभी सम्भव है यदि अन्य साधनों की माँग लोचदार है।

(6) अधिक लाभ (Abnormal Profit)—यदि उद्योग अधिक लाभ कमा रहा हो तो यूनियनें मालिकों को मजबूर कर सकती हैं कि वे उस लाभ का कुछ भाग मज़दूरी में वद्धि अथवा बोनस के रूप में मजदूरों को दें।

यदि उपरोक्त शर्तें पूरी नहीं होतीं तो **मज़दूरी बढ़ने के फलस्वरूप बेरोजगारी में वद्धि** होगी जैसा कि रेखाचित्र 6.10 से ज्ञात होता है।

SS श्रम की प्रारम्भिक पूर्ति वक्र है तथा **DD** श्रम की माँग वक्र है। ये दोनों वक्र **E** बिन्दु पर एक–दूसरे को काट रहे हैं। इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में **OW** मज़दूरी की दर निर्धारित होगी तथा **WE** श्रमिकों को रोजगार प्राप्त होगा। यदि श्रम संघ श्रमिकों की पूर्ति में कटौती करते हैं तो नया पूर्ति वक्र $\mathbf{S_1S_1}$ होगा जो कि श्रम की माँग वक्र **DD** को $\mathbf{E_1}$ बिन्दु पर काटता है। इसलिए $\mathbf{E_1}$ नया सन्तुलन बिन्दु होगा। इस नये सन्तुलन बिन्दु से स्पष्ट है कि मजदूरी दर बढ़कर $\mathbf{OW_1}$ हो जायेगी। परन्तु रोजगार की मात्रा में **MK** की कमी हो जाएगी अर्थात् अब केवल $\mathbf{W_1M}$ श्रमिकों को रोजगार प्राप्त होगा।

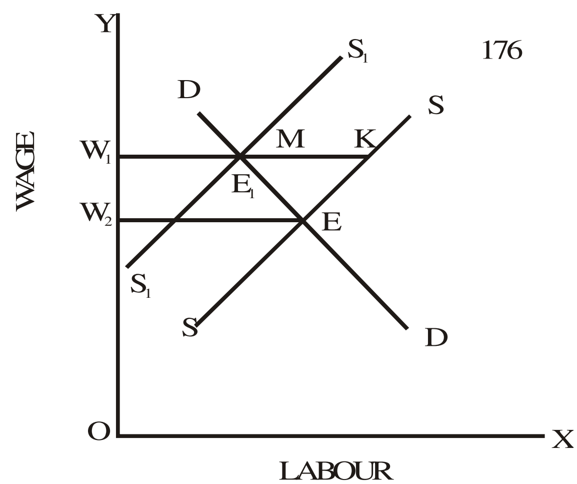

चित्र 6.10

श्रम का शोषण (Exploitation of Labour)

श्रीमती रोबन्सन, प्रो. पीगू आदि अर्थशास्त्रियों के अनुसार एकाधिकार दशा वाले बाजारों में श्रम का शोषण **(Exploitation)** होता है।

श्रम के शोषण से अभिप्राय उस स्थिति से है जिसमें किसी साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता से कम कीमत पर रोजगार प्राप्त होता है। (Exploitation of a labour refers to a situation in which it is employed at a price that is less than its margional productivity.)

शोषण की मात्रा सीमान्त उत्पादकता के मूल्य तथा औसत मज़दूरी के अन्तर पर निर्भर करती है

$$\mathbf{Ex = VMP—AW}$$

(यहाँ **Ex=**शोषण; **VMP=**सीमान्त उत्पादकता मूल्य; **AW=** औसत मजदूरी)

परिभाषा (Definition)

(i) मिल्लर के शब्दों में, **''शोषण से अभिप्राय है कि उत्पादन के साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के मूल्य से कम भुगतान किया जाता है।''** (Exploitation is defined as paying a factor of production less than the value of marginal product.—**Miller**)

(ii) जॉन सोल्मन के शब्दों में, **''क्रेताधिकार वह बाजार है जिसमें केवल एक क्रेता या एक नियोजक होता है।''**

(Monopsony is a market with a single bouyer or employer—**Solom**)

हम क्रेताधिकार (Monopsony) की स्थिति में श्रम के शोषण का अध्ययन करेंगे।

क्रेताधिकार बाजार की वह दशा है जिसमें उत्पादन के साधनों का केवल एक ही क्रेता होता है। उदाहरण के लिए किसी क्षेत्र में रोजगार देने वाली अर्थात् श्रमिकों की सेवाएँ खरीदने वाली एक ही कम्पनी हो सकती है। इसलिए क्रेताधिकार से अभिप्राय बजार की उस अवस्था से है जिसमें केवल एक ही फर्म साधनों की सेवाएँ खरीदती है।

यदि क्रेताधिकार साधन की माँग अधिक करेगा तो साधन कीमत बढ़ेगी। इसके विपरीत यदि वह साधन की कम माँग करेगा तो साधन की कीमत कम होगी। इसके फलस्वरूप क्रेताधिकार की सिथिति में **औसत साधन लागत वक्र (AFC) तथा सीमान्त साधन लागत वक्र (MFC)** केवल अलग–अलग ही नहीं होगी बल्कि नीचे से ऊपर की ओर उठ रही होगी। क्रेताधिकार की स्थिति में साधन कीमत निर्धारण का अध्ययन दो स्थितियों में किया जा सकता हैः

साधन बाजार में क्रेताधिकार तथा उत्पाद बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता
(Monopoly in Factor in Market and Perfect Competition in Produce Market)

क्रेताधिकार की स्थिति में साधन कीमत निर्धारण की व्याख्या एक उदाहरण की सहायता से की जा सकती है। मान लीजिए उत्पादन का साधन श्रम है तथा साधन बाजार में केवल एक ही फर्म है जो श्रमिकों को रोजगार प्रदान करती है। इसके विपरीत वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता है। इस फर्म की श्रमिकों के लिए जैसे–जैसे माँग बढ़ती जाती है उनकी सीमान्त मजदूरी या सीमान्त साधन लागत **(MW or MFC)** तथा औसत मजदूरी या औसत साधन लागत **(AW or AFC)** भी बढ़ती जाएगी। **MW** वक्र तथा **AW** वक्र दोनों का ही ढलान ऊपर की ओर होगा और **MW** वक्र **AW** वक्र की तुलना में अधिक तेजी से ऊँचा उठेगा। अर्थात् सीमान्त मजदूरी वक्र औसत मजदूरी वक्र की तुलना में अधिक ऊँचा होगा। यह ध्यान रखना चाहिए कि **यहाँ A W** या **AFC वक्र श्रम का पूर्ति वक्र है तथा VMP/MRP वक्र श्रम का माँग वक्र है।** पूर्ण प्रतियोगिता में सीमान्त उत्पादकता का मूल्य (VMP) तथा सीमान्त आय उत्पादकता बराबर (MRP=VMP) होती है। इसलिए **सीमान्त आय उत्पादकता का मूल्य वक्र या सीमान्त आय उत्पादकता वक्र (VMP or MrP Curve) एक ही होते हैं।**

वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता होने के कारण तथा उत्पाद पर घटते–बढ़ते प्रतिफल का नियम (Law of Variable Proportion) लागू होने के फलस्वरूप सीमान्त आय उत्पादकता वक्र तथा सीमान्त उत्पादकता का मूल्य वक्र केवल अलग–अलग ही नहीं होते बल्कि नीचे की ओर गिर रहे होते हैं। क्रेताधिकार की अवस्था में भी एक फर्म श्रमिकों की केवल उस संख्या को काम पर लगाएगी जिस पर श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता का मूल्य **(VMP)** तथा सीमान्त आय उत्पादकता **(MRP)** तथा उन्हें दी जाने वाली सीमान्त मजदूरी **(MW)** बराबर हो जाती है। **यह सन्तुलन की अवस्था** होगी। इस स्थिति में जो औसत मजदूरी दी जाती है वह साधन की कीमत होगी। औसत मजदूरी के सीमान्त मजदूरी अथवा सीमान्त आय उत्पादक से कम होने के कारण, श्रमिकों को सीमान्त उत्पादकता से कम मजदूरी मिलेगी। इस प्रकार क्रेताधिकार की अवस्था में **श्रमिकों का शोषण होगा। साधन के शोषण से अभिप्राय उस स्थिति से है जिसमें किसी साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता से कम कीमत पर रोजगार प्राप्त होता है।** (Exploitation of a factor refers to a situation in which it is employed at a price that is less than its marginal productivity.)

शोषण की मात्रा सीमान्त आय उत्पादकता तथा औसत मजदूरी या साधन कीमत के अन्तर पर निर्भर करती है। इसे रेखाचित्र 11 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

रेखाचित्र 6.11 में **OX** अक्ष पर श्रमिकों की संख्या तथा **OY** अक्ष पर उत्पादकता तथा मजदूरी को प्रकट किया गया है। **MW** सीमान्त मजदूरी वक्र तथा **AW** औसत मजदूरी वक्र है। **VMPèMRP** सीमान्त उत्पादकता का मूल्य या सीमान्त आय उत्पादकता वक्र है।

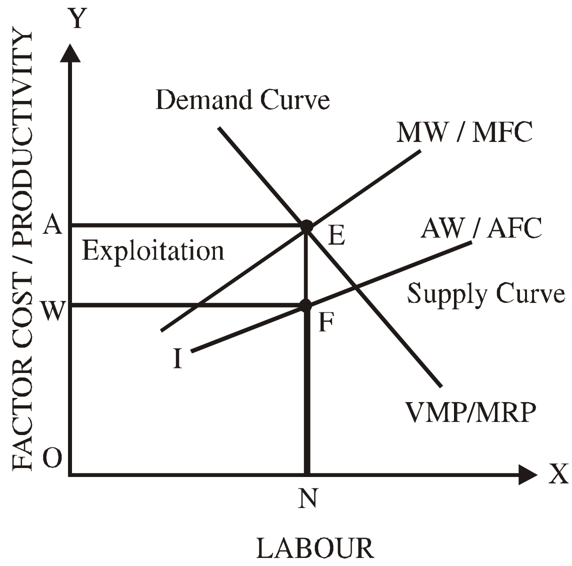

चित्र 6.11

एक क्रेताधिकार श्रमिकों की उस संख्या को रोजगार प्रदान करेगा जिस पर सीमान्त मजदूरी **(MW)** तथा सीमान्त आय उत्पादकता **(MRP)** बराबर होगी। इसे रेखाचित्र से ज्ञात होता है कि **E** बिन्दु पर फर्म सन्तुलन की अवस्था में होगी। बिन्दु **E** पर क्योंकि **MW=MRP or VMP** अतएव इस अवस्था में उद्यमी **ON** श्रमिकों को रोजगार देगा। **ON** श्रमिकों को **NF** मजदूरी दी जायेगी जैसा कि औसत मजदूरी वक्र **(AW Curve)** के बिन्दु से ज्ञात होता है। अतएव **ON** मजदूरों को उनकी सीमान्त उत्पादकता **EN** से कम **FN** मजदूरी मिलेगी। क्रेताधिकारी फर्म को **EF (EN-FN)** प्रति श्रमिक लाभ होगा। यह लाभ श्रमिकों के शोषण के कारण उत्पन्न हुआ है। कुल लाभ की मात्रा **WEFA** श्रम के शोषण (Exploitation of Labour) उत्पन्न होती है। कुल लाभ या कल शोषण **WFEA** होगा।

साधन बाजार में क्रेताधिकार तथा उत्पाद बाजार में एकाधिकार
(Monopoly in the Factor Market and Monopoly in the Product Market)

हम उपरोक्त विश्लेषण में उत्पाद बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता के स्थान पर एकाधिकार की स्थिति की भी विवेचना कर सकते हैं। एकाधिकार की स्थिति में सीमान्त आय उत्पादकता **(MRP)**, सीमान्त उत्पादकता के मूल्य **(VM P)** से भिन्न होती है। इसलिए इस स्थिति में शोषण की मात्रा ज्ञात करने के लिए सीमान्त उत्पादकता के मूल्य **(VMP)** के स्थान पर सीमान्य आय उत्पादकता की धारणा का प्रयोग किया जाता है।

चित्र 6.12 में **MRP** वक्र सीमान्त आय उत्पादकता वक्र है तथा **VMP** वक्र सीमान्त भौतिक उत्पादकता का मूल्य वक्र है। **एकाधिकार की स्थिति में MRP तथा VMP बराबर नहीं होती।**

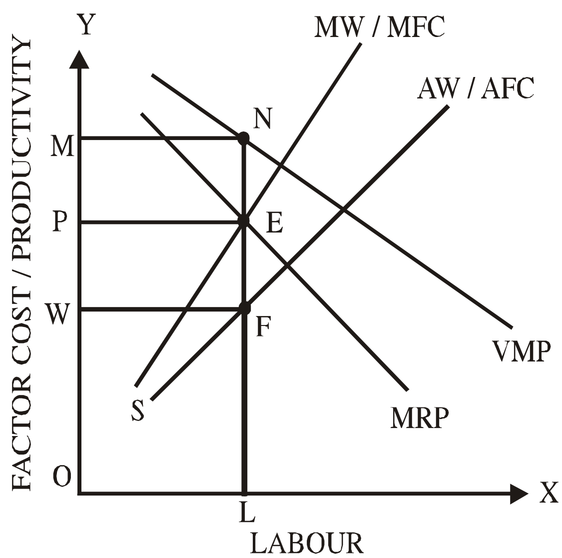

चित्र 6.12

एक उद्यमी श्रमिकों की उस संख्या को रोजगार प्रदान करेगा जिस पर सीमान्त मजदूरी **(MW)** तथा सीमान्त आय उत्पादकता **(MRP)** बराबर होगी। इस रेखाचित्र से ज्ञात होता है कि **E** बिन्दु पर फर्म सन्तुलन की अवस्था में होगी। बिन्दु **E** पर क्योंकि **MW=MRP**। इस अवस्था में उद्यमी **OL** श्रमिकों को रोजगार देगा। **OL** श्रमिकों को **OW (FL)** मजदूरी दी जाएगी जैसा कि औसत मजदूरी वक्र **(AW Curve)** के **F** बिन्दु से ज्ञात होता है कि श्रमिकों को **FL** मजदूरी मिलेगी जो सीमान्त उत्पादकता के मूल्य **(VMP) NL** से कम है। अतएव श्रमिक का **NL-FL= NR** के बराबर शोषण होगा। कुल शोषण **WFNM** के बराबर होगा। इसमें से एकाधिकार के कारण होने वाला शोषण **(VMP-MRP)=NL** होगा तथा क्रेताधिकार के कारण होने वाला शोषण **(MRP-OW) = EF** होगा। इसलिए कुल शोषण **WFNM** के बराबर होगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उत्पाद बाजार में एकाधिकार होने के फलस्वरूप साधन का शोषण उत्पाद बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना में अधिक होता है। चित्र 6.12 द्वारा प्रकट शोषण **WFNM** चित्र 8 द्वारा प्रकट शोषण **WFNM** चित्र 6.11 द्वारा प्रकट शोषण **A** की तुलना में अधिक है।

पूर्ण प्रतियोगिता में मज़दूरी निर्धारण
(Wage Determination Under Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में सन्तुलित मज़दूरी वहाँ पर निर्धारित होगी जहाँ पर किसी साधन की माँग तथा पूर्ति, उद्योग के लिए बराबर हो जाए। अन्य शब्दों में, यहाँ कहा जा सकता है कि पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में दीर्घकाल में श्रमिक को उसकी सीमान्त आय उत्पादकता **(MRP)** अथवा सीमान्त भौतिक उत्पादकता के मूल्य **(VMP)** के बराबर मज़दूरी प्राप्त होगी। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में मज़दूरी निर्धारण को रेखाचित्र नं. 6.12 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। रेखाचित्र नं. 6.12 में **OX** अक्ष पर श्रमिकों की संख्या तथा **OY** अक्ष पर मज़दूरी प्रकट की गई है। **DD** उद्योग के लिए श्रमिकों की माँग वक्र है तथा **SS** उद्योग के लिए श्रमिकों की पूर्ति वक्र है। बिन्दु **E** सन्तुलन की अवस्था को प्रकट कर रहा है। इस बिन्दु पर श्रम की माँग तथा पूर्ति एक–दूसरे के बराबर है। अतएव पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में मज़दूरी की दर **OW** निर्धारित होगी तथा **ON** श्रमिकों को रोज़गार प्राप्त हो सकेगा। यदि मजदूरी की दर **OW** से अधिक होकर **OW_1** हो जाए तो श्रमिकों की पूर्ति **ON_2** उनकी माँ **ON_1** से अधिक होगी। कुछ श्रमिक बेरोजगार रहेंगे। वे कम मज़दूरी पर भी काम करने के लिए तैयार हो जाएंगे। अतएव मज़दूरी की दर कम होकर फिर **OW** हो जाएगी। इसके विपरीत यदि मजदूरी की दर **OW** से कम होकर **OW_2** हो जाती है तो श्रमिकों की माँग **ON_3** उनकी पूर्ति **ON_4** से अधिक होगी। माँग अधिक होने के कारण मज़दूरी की दर बढ़कर फिर **OW** हो जाएगी। पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में जब एक बार उद्योग द्वारा मजदूरी की दर निर्धारित हो जाती है तो प्रत्येक फर्म को मजदूरी की इस दर को स्वीकार करना पड़ता है। यही कारण है कि श्रम के लिए मजदूरी की वर्तमान दर पर मजूदरी का पूर्ति वक्र पूर्णतया लोचदार है। अतएव एक फर्म बिना मज़दूरी की दर में वद्धि किए हुए मज़दूरी की बाजार में प्रचलित दर पर ही जितने चाहे उतने श्रमिकों को रोज़गार प्रदान कर सकती है। एक फर्म के सन्तुलन की स्थिति का अध्ययन समय की दो अवधियों में किया जा सकता हैः–

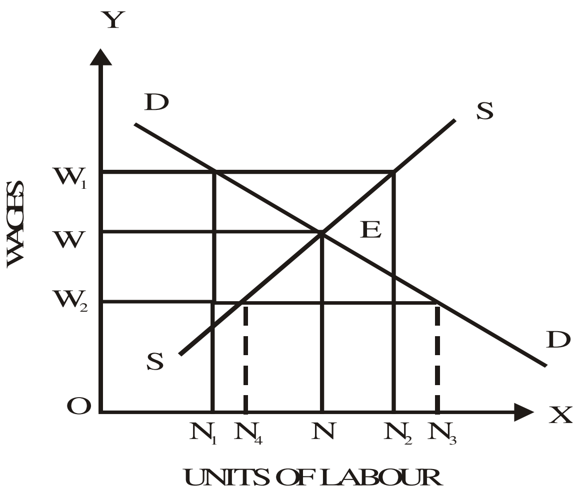

चित्र 6.13

अल्पकाल (Short Period)

अल्पकाल समय की वह अवधि है जिसमें कम से कम किसी एक साधन की पूर्ति स्थिर होती है। अतएव फर्म केवल घटते–बढ़ते साधन जैसे श्रमिकों की संख्या में परिवर्तन करके पूर्ति में परिवर्तन कर सकती है। अतः अल्पकाल में एक फर्म के लिए मज़दूरों को रोज़गार देने से सम्बन्धित तीन स्थितियां हो सकती हैं :–

(i) असामान्य लाभ (Supper Normal Profit)—यदि उद्योग द्वारा निर्धारित मज़दूरी की दर **OW** पर फर्म इतने श्रमिकों को रोज़गार प्रदान करती है कि उनकी औसत आय उत्पादकता **(ARP)** मजदूरी की दर से अधिक हो तो फर्म को **असामान्य लाभ (Super Normal Profit)** प्राप्त होंगे। रेखाचित्र 6.14 से ज्ञात होता है कि फर्म **ON** श्रमिकों को रोज़गार देगी क्योंकि इस स्थिति में जैसा बिन्दु **E** से ज्ञात होता है **MRP=MW**। रोजगार के इस स्तर पर श्रमिकों की औसत आय उत्पादकता **PN** के बराबर है जबकि मज़दूरी की दर **EN** है। अतएव फर्म को **PN-EN=PE** के बराबर प्रति श्रमिक **असामान्य लाभ** प्राप्त होंगे।

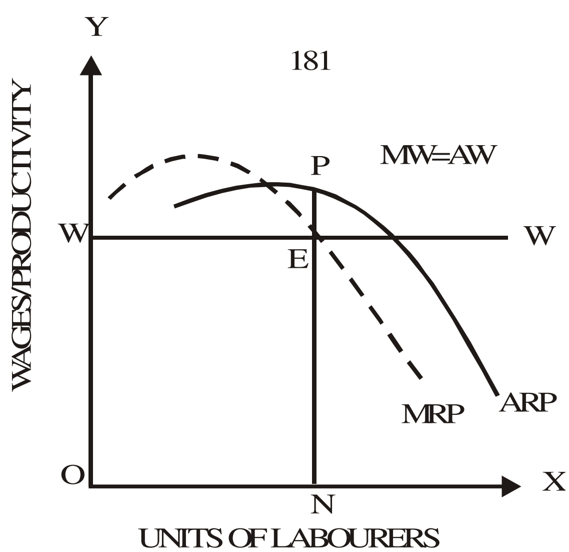

चित्र नं. 6.14

(ii) सामान्य लाभ (Normal Profit)—यदि उद्योग द्वारा निर्धारित मज़दूरी की दर **OW** पर फर्म इतने श्रमिकों को रोज़गार प्रदान करती है कि उनकी औसत आय उत्पादकता, मजदूरी की दर के बराबर हो तो फर्म को केवल **सामान्य लाभ (Normal Profit)** प्राप्त होंगे। रेखाचित्र नं. 6.15 से ज्ञात होता है कि जब फर्म **ON** श्रमिकों को रोज़गार दे रही है तो इन श्रमिकों की औसत मजदूरी **OW** तथा औसत आय उत्पादकता **EN** के बराबर होगी। अतः फर्म को केवल सामान्य लाभ प्राप्त होंगे।

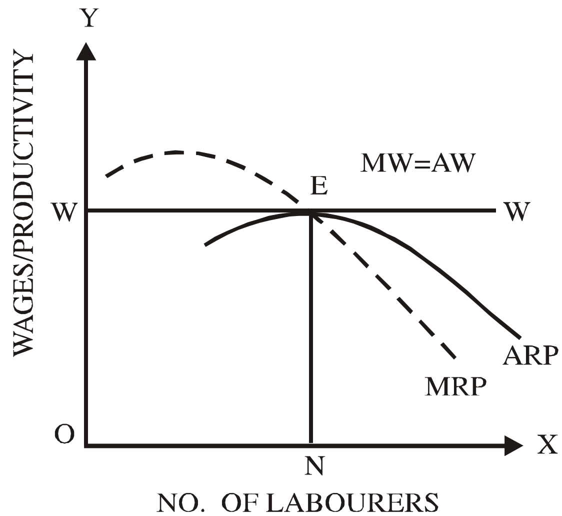

चित्र नं. 6.15

(iii) हानि (Loss) : यदि उद्योग द्वारा निर्धारित मज़दूरी की दर पर फर्म इतने श्रमिकों को रोजगार प्रदान करती है कि उनकी औसत आय उत्पादकता मज़दूरी की दर से कम हो तो फर्म को हानि होगी। रेखाचित्र 6.16 से ज्ञात होता है कि जब फर्म **ON** श्रमिकों को रोज़गार दे रही है तो श्रमिकों की औसत मजदूरी **OW** या **EN** औसत आय उत्पादकता **PN** से अधिक है। अतएव फर्म को **EN-PN= PE** के बराबर प्रति श्रमिक हानि होगी।

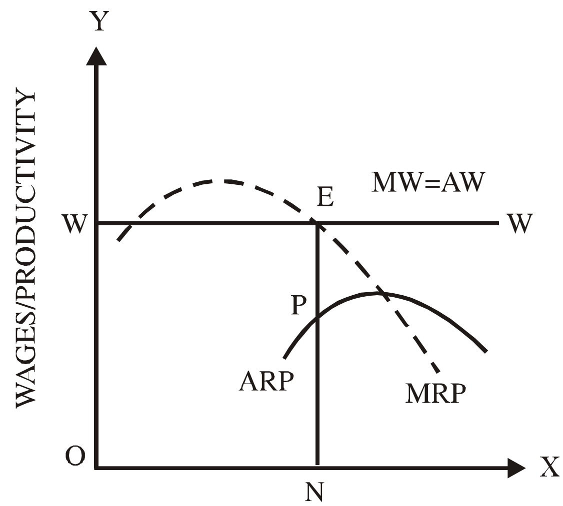

चित्र 6.16

दीर्घकाल (Long Period)

दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में कोई फर्म न तो असामान्य लाभ प्राप्त कर सकता है और न ही हानि उठा सकती है। अतः फर्म सन्तुलन की स्थिति में उस समय होगी जब औसत मज़दूरी **(AW)** सीमान्त मज़दूरी **(MW)**, सीमान्त आय उत्पादकता **(MRP)** तथा औसत आय उत्पादकता **(ARP)** बराबर होंगे अर्थात् दीर्घकाल में **MRP=ARP=AW=MW** होगी। रेखाचित्र 6.17 से ज्ञात होता है कि फर्म **ON** श्रमिकों को रोज़गार प्रदान कर रही है; इस स्थित में मजदूरों की औसत मज़दूरी, सीमान्त आय उत्पादकता तथा औसत आय उत्पादकता के बराबर है। अतएव एक फर्म के सन्तुलन के लिए दो शर्तें पूरी होनी चाहिए।

(i) MRP=MW

(ii) ARP=AW।

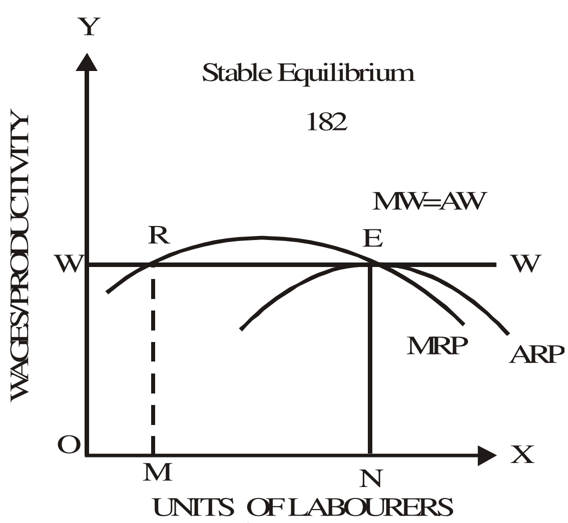

चित्र 6.17

चित्र 16 के सन्तुलन बिन्दु **E** पर ये दोनों शर्तें पूरी हो रही हैं। जबकि बिन्दू **R** पर केवल एक शर्त अर्थात् **MRP= MW** पूरी हो रही है। फर्म **OM** से **ON** तक जितने श्रमिकों को रोजगार प्रदान करेगी उसके लाभ बढ़ते जाएँगे।

लगान (Rent)

लगान क्या है?—अर्थशास्त्र में लगान शब्द का प्रयोग उत्पादन के उन साधनों को दिए जाने वाले भुगतान के लिए किया जाता है जिनकी पूर्ति अपूर्ण लोचदार होती है। इस सम्बन्ध में प्रमुख उदाहरण भूमि का दिया जाता है। जबकि साधारण बोलचाल की भाषा में लगान या किराया शब्द का प्रयोग उस भुगतान के लिए किया जाता है जो किसी वस्तु जैसे मकान, दुकान, फर्नीचर आदि की सेवाओं का उपभोग करने के लिए नियमित रूप से एक निश्चत अवधि के लिए किया जाता है।

लगान के प्रकार (Types of Rent)

लगान के मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं:

आर्थिक लगान (Economic Rent)

केवल भूमि के प्रयोग के लिए किया जाने वाला भुगतान आर्थिक लगान कहलाता है। अर्थशास्त्र में लगान शब्द का प्रयोग आर्थिक लगान के लिए ही किया जाता है। अतएव रिकार्डो तथा दूसरे परम्परावादी अर्थशास्त्रियों के अनुसार, "**आर्थिक लगान वह लगान है जो केवल भूमि की सेवाओं के लिए प्राप्त होता है।**" आर्थिक लगान को **आधिक्य** (Surplus) भी कहा जाता है क्योंकि वह भू–स्वामी की तरफ से बिना कोई प्रयत्न किए ही प्राप्त होता है। **प्रो. बोल्डिंग** ने इसे **आर्थिक आधिक्य** (Economic Surplus) कहा है।

कुल लगान (Gross Rent)

कुल लगान वह लगान है जो भूमि की सेवाओं तथा उस पर लगाई गई पूँजी के लिए दिया जाता है। कुल लगान में निम्नलिखित तत्त्व शामिल होते हैं– **(i) आर्थिक लगान**—यह केवल भूमि के प्रयोग के लिए किया जाने वाला भुगतान है। **(ii)** भूमि की उन्नति के लिए अर्थात् भूमि के निकट कुआँ खुदवाने, झोंपड़ी बनवाने, नालियाँ बनवाने आदि पर जो धन व्यय किया जाता है, उसका **ब्याज (Interest)** कुल लगान में शामिल किया जाता है। **(iii)** भूमिपति भूमि के सुधार के लिए धन व्यय करके जोखिम उठाता है, इस जोखिम का पुरस्कार भी कुल लगान में शामिल होता है।

दुर्लभता लगान (Scarcity Rent)

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **माल्थस** के अनुसार, लगान के उत्पन्न होने का मुख्य कारण भूमि का दुर्लभ होना है अर्थात् भूमि की पूर्ति का माँग से कम होना है। **समरूप भूमि की दुर्लभता के कारण जो लगान देना पड़ता है उसे दुर्लभता लगान कहा जाता है।** (Scarcity Rent is the price paid for the use of the homogeneous land when its supply is limited in relation to demand)। यदि सब भूमि एक ही प्रकार की हो परन्तु भूमि की माँग उसकी पूर्ति से अधिक हो जाए तो सारी भूमि को दुर्लभता के कारण आर्थिक लगान प्राप्त होगा। इसलिए लगान उस समय ही उत्पन्न होगा जब भूमि की पूर्ति **बेलोचदार (Inelastic)** होगी अर्थात् माँग के बढ़ने पर पूर्ति को नहीं बढ़ाया जा सकता। रिकार्डो का भी यह मत था कि भूमि लाभप्रद तो है लेकिन दुर्लभ भी है। भूमि की उत्पादकता तो प्रकृति की उदारता का सूचक हो सकती है परन्तु उसकी कुल पूर्ति का लगभग स्थिर रहना प्रकृति की **कन्जूसी (Niggardliness)** का प्रतीक है।

भेदात्मक लगान (Differential Rent)

रिकार्डो के अनुसार, भूमि का **उपजाऊ शक्ति (Fertility)** में अन्तर पाए जाने के फलस्वरूप लगान उत्पन्न होता है। प्रत्येक देश में कई प्रकार की भूमि पाई जाती है। कुछ भूमि अधिक उपजाऊ होती है तथा कुछ भूमि कम उपजाऊ होती है। जब कम उपजाऊ भूमि पर भी खेती करनी पड़ती है तो अधिक उपजाऊ भूमि के स्वामी को अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन प्राप्त होता है। **यह आधिक्य (Surplus) जो भूमि की उपजाऊ शक्ति में भेद** (Difference) **पाये जाने के कारण उत्पन्न होता है, भेदात्मक लगान कहलाता है।** इस प्रकार का भेदात्मक लगान **विस्तत खेती** (Extensive Cultivation) में उत्पन्न होता है। रिकार्डो का यह विचार भी था कि यदि एक ही प्रकार की भूमि पर अधिक उत्पादन बढ़ाने के लिए श्रम तथा पूँजी की अधिक मात्राओं का प्रयोग किया जाए अर्थात् **गहन खेती (Intensive Cultivation)** की जाए तो जैसे–जैसे भूमि के एक निश्चित क्षेत्रफल में पूँजी तथा श्रम की अधिक–से–अधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाएगा उनकी सीमान्त उत्पादकता कम होती जाएगी अर्थात् **घटते प्रतिफल का नियम (Law of Diminishing Returns)** लागू होने लगेगा। इस नियम के फलस्वरूप भूस्वामी श्रम तथा पूँजी की जिस अन्तिम इकाई का प्रयोग करेगा, उसे **सीमान्त इकाई (Marginal Unit)** कहा जाएगा तथा उससे पहले की इकाईयों को **अन्तर-सीमान्त इकाईयाँ (Intra-Marginal Units)** कहा जाएगा। **घटते प्रतिफल** के नियम के कारण सीमान्त इकाई तथा अन्तर सीमान्त इकाई के उत्पादन में जो भेद होगा उसे भी **भेदात्मक लगान** कहा जाएगा। इस प्रकार घटते प्रतिफल के नियम के अनुसार **गहन खेती** में भेदात्मक लगान उत्पन्न होता है।

स्थिति लगान (Situation Rent)

भूमि की स्थिति में अन्तर पाये जाने के कारण जो लगान पाया जाता है उसे स्थिति लगान (Situation Rent) कहते हैं। जो भूमि मण्डी या शहरों के अधिक समीप होती है उस पर शहर से दूर स्थिति भूमि की अपेक्षा अधिक लगान प्राप्त होता है। इसका एक कारण है कि शहर का मण्डी के अधिक समीप होने के कारण उस भूमि की उपज को कम खर्च में मण्डी में पहुँचाया जा सकता है। इस प्रकार **यातायात खर्चे (Transport Expenses)** की बचत हो जाती है। दूसरा कारण यह होता है कि मण्डी में वस्तु की कीमत गाँव से अधिक प्राप्त होती है। इस प्रकार की स्थिति में अन्तर के कारण से भूमिपति को जो **आधिक्य (Surplus)** प्राप्त होता है, उस लगान को **स्थिति लगान** कहते हैं।

लगान के सिद्धान्त (Theories of Rent)

लगान के दो मुख्य निम्नलिखित सिद्धान्त हैं–

(1) रिकार्डो का लगान सिद्धान्त (Recardian Theory of Rent)

(2) लगान का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of Rent)

रिकार्डो का लगान सिद्धान्त या लगान का परम्परावादी सिद्धान्त (Recardian Theory of Rent or Classical Theory of Rent)

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **डेविड रिकार्डो** ने अपनी पुस्तक "Principles of Political Economy and Taxation" (1817) में सबसे पहले लगान के सम्बन्ध में एक व्यवस्थित **(Systematic)** सिद्धान्त दिया था। रिकार्डो से पहले **फिज्योक्रेटस** तथा **एडम स्मिथ** लगान को प्रकृति की **उदारता (Bounty)** का परिणाम मानते थे। उनके अनुसार भूमि पर खेती करने के लिए जितना श्रम लगाया जाता है, प्रकृति के सहयोग के फलस्वरूप उत्पादन उससे कई गुणा अधिक होता है। यह अधिक उत्पादन **शुद्ध उत्पादन (Net Profit)** अथवा लगान कहलाता है। परन्तु रिकार्डो के अनुसार लगान प्रकृति की **कन्जूसी (Niggardliness)** का परिणाम है। परम्परावादी **अर्थशास्त्र जेम्स एण्डरसन** ने रिकार्डो से पहले यह विचार प्रकट किया था कि लगान इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि भूमि की **उपजाऊ शक्ति** (Fertility) में अन्तर होता है। कृषि उपज या उत्पादन बढ़ाने के लिए जब **विस्तत खेती** की जाती है तो घटिया किस्म की भूमि पर भी खेती करनी पड़ती है। इसके फलस्वरूप अपेक्षाकृत बढ़िया भूमि पर खेती करने से जो अधिक उपज उत्पन्न होती है वह लगान कहलाएगी। **माल्थस** के अनुसार, भूमि के एक निश्चित क्षेत्र पर **गहन खेती** करके उपज बढ़ाई जा सकती है, परन्तु **घटते प्रतिफल के नियम** (Law of Diminishing Returns) के अनुसार जैसे–जैसे श्रम तथा पूँजी की अधिक मात्रा का प्रयोग किया जाएगा, सीमान्त उत्पादकता कम होती जाएगी तथा पहले वाली इकाईयों से सीमान्त इकाई की अपेक्षा जो अधिक उपज होगी वह लगान कहलाएगी। रिकार्डो ने अपने लगान के सिद्धान्त में **एण्डरसन** तथा **माल्थस** दोनों के विचारों का समन्वय किया है।

लगान की परिभाषा (Definition of Rent)

रिकार्डो के अनुसार, **"लगान भूमि की उपज का वह भाग है जो भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों के लिए भूस्वामी को दिया जाता है।"** (Rent is that portion of the produce of the earth which is paid to the landlord for the use of original and indestructible powers of the soil.—Recardo)। इस परिभाषा के अनुसार भूमि की मौलिक तथा अविनाशी शक्तियों के प्रयोग के लिए भूमि की उपज में से ही जो भाग भूमि के स्वामी को दिया जाता है, वह लगान है।

सिद्धान्त की मान्यताएँ (Assumptions of the Theory)

रिकार्डो का लगान सिद्धान्त निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है–

(1) भूमि की **उर्वरता (Fertility)** में अन्तर है। कुछ भूमि बढ़िया अर्थात् उपजाऊ होती है परन्तु कुछ भूमि घटिया अथवा कम उपजाऊ होती है।

(2) समस्त अर्थव्यवस्था के लिए भूमि की पूर्ति **स्थिर (Fixed)** होती है, उसे बढ़ाया या घटाया नहीं जा सकता।

(3) भूमि का केवल एक ही उपयोग होता है अर्थात् उस पर खेती करना। भूमि के **वैकल्पिक उपयोग** (Alternative Uses) नहीं होते।

(4) वस्तु बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है, इसलिए सारे बाजार में एक प्रकार का कृषि उत्पादन एक ही कीमत पर बिकता है।

(5) कृषि के क्षेत्र में घटते प्रतिफल का नियम लागू होता है।

(6) अर्थव्यवस्था में **सीमान्त भूमि (Marginal Land)** अर्थात् **लगान रहित भूमि (No Rent Land)** भी पाई जाती है।

(7) भमि पर खेती का कार्य, भूमि की उपजाऊ शक्ति के क्रम के अनुसार किया जाता है। किसान अधिक उपजाऊ भूमि पर, कम उपजाऊ भूमि की अपेक्षा पहले खेती करते हैं।

(8) भूमि की उपजाऊ शक्ति **मौलिक (Original)** तथा **अविनाशी (Indestructible)** है।

(9) जनसंख्या में वद्धि होने से कृषि पदार्थों की माँग बढ़ती है।

(10) कृषि उपज की लागत श्रम की मात्रा पर निर्भर करती है। सब प्रकार की भूमि के निश्चित क्षेत्रफल पर किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए श्रम की एक जैसी संख्या लगानी पड़ती है। अतः उत्पादन लागत एक जैसी होती है, परन्तु उत्पादन की मात्रा विभिन्न होती है।

सिद्धान्त की व्याख्या (Statement of Theory)

रिकार्डो के लगान सिद्धान्त की व्याख्या एक नए–नए आबाद देश के उदाहरण की सहायता से की जा सकती है। एक नए देश में आरम्भ में जनसंख्या बहुत कम होती है इसलिए सब प्रकार की भूमि की पूर्ति उसकी माँग से अधिक होती है। भूमि प्रकृति का निःशुल्क साधन है अतएव लोगों को भूमि मुफ्त में मिल जाती है। भूमि की उर्वरता में अन्तर होने के कारण वे सबसे पहले अच्छी श्रेणी के भूमि पर खेती करेंगे। **A** श्रेणी की भूमि की पूर्ति की माँग से अधिक है। इसलिए उर्वरता में अन्तर होने पर भी इस भूमि के लिए कोई लगान नहीं देना पड़ेगा। अतएव केवल उर्वरता के अन्तर के कारण उत्पन्न नहीं होता है। जब धीरे–धीरे देश की जनसंख्या बढ़ने के कारण भूमि की माँग बढ़ेगी तो सबसे अच्छी **A** श्रेणी की भूमि सीमित होने के कारण इस भूमि की माँग, पूर्ति से अधिक हो जाएगी। लोगों को **A** श्रेणी से घटिया **B** श्रेणी की भूमि पर खेती करनी पड़ेगी। मान लीजिए **A** श्रेणी की एक हैक्टेयर भूमि पर 5 श्रमिक लगाने से 10 क्विंटल अनाज पैदा होता है तथा **B** श्रेणी की एक हैक्टेयर भूमि पर 5 श्रमिक लगाने से 5 क्विंटल अनाज उत्पन्न होता है तो **A** श्रेणी के भूस्वामियों को उसी लागत पर 5 क्विंटल अनाज अधिक प्राप्त होगा, जो **लगान** (Rent) कहलाएगा। यह लगान भूमि की दुर्लभता के कारण घटिया किस्म की भूमि पर उत्पादन करने से उत्पन्न हुआ है। यदि मान लीलिए सब भूमि एक समान है अर्थात् भूमि की उर्वरता में कोई अन्तर नहीं पाया जाता तो भी जैसे–जैसे जनसंख्या बढ़ती जाएगी भूमि की माँग बढ़ेगी परन्तु पूर्ति स्थिर रहेगी। भूमि की पूर्ति के माँग से कम होने के कारण जो लोग भूमि प्राप्त करना चाहते हैं वे भूमि के लिए कुछ भुगतान करने को तैयार हो जाएँगे। इस भुगतान को **लगान** कहा जाएगा। अतएवं यदि सब भूमि एक समान है अर्थात् उसकी उर्वरता में कोई अन्तर नहीं है, तो भी **भूमि की दुर्लभता के कारण लगान उत्पन्न होगा।** संक्षेप में, **लगान भूमि की दुर्लभता के कारण उत्पन्न होता है। भूमि की उर्वरता का अन्तर तो केवल लगान की रकम तथा उसमें पाई जाने वाली विभिन्नता का माप है।** (Rent arises due to scarcity of land. The difference in fertility is the measure of the size of rent.)

लगान निर्धारण (Determination of Rent)

रिकार्डो के अनुसार लगान का निर्धारण दो प्रकार की परिस्थितियों में किया जा सकता है– **(1) विस्तत खेती (Extensive Cultivation) (2) गहन खेती (Intensive Cultivation)**

(1) विस्तत खेती में लगान (Rent in Extensive Cultivation)

विस्तत खेती उस खेती को कहते हैं जिसमें उत्पादन बढ़ाने के लिए अधिक भूमि का प्रयोग किया जाता है। मान लो, किसी राष्ट्र की कुल भूमि को उपजाऊ शक्ति के अनुसार 4 श्रेणियों **A, B, C** और **D** में बाँटा गया है। आरम्भ में जब किसी देश में जनसंख्या बहुत कम होती है, लोग सबसे अच्छी भूमि अर्थात् **A** श्रेणी पर कृषि करते हैं। मान लीजिए इस भूमि पर श्रम तथा पूँजी की एक इकाई, जिसकी कीमत 100 रुपए है, लगाने से 10 क्विंटल गेहूँ उत्पन्न होता है। इस दशा में कोई लगान उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि ऐसी भूमि काफी मात्रा में उपलब्ध है। परन्तु यदि जनसंख्या के

बढ़ने के कारण **'A'** श्रेणी की सारी भूमि का उपयोग होने लगता है तो लोग इससे घटिया भूमि अर्थात् **'B'** श्रेणी पर खेती करने के लिए विवश हो जाएँगे। मान लीजिए **'B'** श्रेणी की भूमि पर श्रम और पूँजी की एक इकाई जिसकी कीमत 100 रुपए हैं, खर्च करने से 8 क्विंटल गेहूँ उत्पन्न होता है। श्रम और पूँजी की एक जैसी इकाई खर्च करने से **A** प्रकार की भूमि से **B** प्रकार की भूमि की तुलना में जो अधिक उत्पादन होता है, वही लगान है। इस स्थिति में **B** प्रकार की भूमि से कोई लगान प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि यह काफी मात्रा में उपलब्ध है। इसके विपरीत यदि कोई **A** प्रकार की भूमि लेना चाहेगा तो उसे 2 क्विंटल लगान देना होगा क्योंकि **B** की अपेक्षा उसकी उपजाऊ शक्ति अधिक है। यदि जनसंख्या में अधिक वद्धि हो जाए तो **B** से भी घटिया भूमि **C** श्रेणी की भूमि पर खेती करनी पड़ेगी। मान लीजिए **C** श्रेणी पर श्रम व पूँजी की एक इकाई अर्थात् 100 रुपए लगाने से 6 क्विंटल गेहूँ उत्पन्न होता है। इस अवस्था में **A** से मिलने वाला लगान बढ़कर 4 क्विंटल हो जाएगा तथा **B** पर भी 2 क्विंटल लगान मिलेगा। अब **C** श्रेणी की भूमि से लगान प्राप्त नहीं होगा। यदि गेहूँ की माँग और बढ़ जाए तो सबसे घटिया किस्म की भूमि अर्थात् **D** श्रेणी पर भी`खेती करनी पड़ेगी। **D** प्रकार की भूमि पर यदि केवल 4 क्विंटल गेहूँ उत्पन्न होता है तो **A** पर लगान 6 क्विंटल, **B** पर 4 क्विंटल, **C** पर 2 क्विंटल तथा **D** प्रकार की भूमि पर कोई लगान नहीं मिलेगा। इसे सीमान्त भूमि **(Marginal Land)** या **लगान रहित भूमि (No Rent Land)** कहते हैं। विस्तत खेती में लगान के निर्धारण को तालिका 1 तथा रेखाचित्र 1 की सहायता से स्पष्ट किया जा सकता है।

Table 6.3 : Determination of Rent

भूमि	उत्पादन	लागत (रुपए)	सीमान्त भूमि पर आधिक्य	लगान
A	10	100	10–4=6	6
B	8	100	8–4=4	4
C	6	100	6–4-2	2
D (सीमान्त भूमि)	4	100	4–4=0	0

तालिका नं. 1 से पता चलता है कि सीमान्त भूमि (**D** श्रेणी) केवल 4 क्विंटल अनाज का उत्पादन करती है। इसलिए **A, B** और **C** श्रेणी की भूमि को सीमान्त भूमि की उपज से अधिक होने वाली उपज के बराबर क्रमशः 6 क्विंटल, 4 क्विंटल व 2 क्विंटल लगान मिलेगा, **D** श्रेणी की भूमि की कोई लगान नहीं मिलगा अर्थात् यह लगान रहित भूमि कहलाएगी।

रेखाचित्र 6.18 में **OX** अक्ष पर भूमि की **श्रेणियाँ** (Grades) तथा **OY** अक्ष पर उत्पादन मापा गया है। **A, B, C, D** विभिन्न प्रकार की भूमियाँ हैं। इनमें पाए जाने वाले विभेद के कारण ही इन पर मिलने लगान की मात्रा निर्धारित होती है। **A** ग्रेड की भूमि से कुल उपज 10 क्विंटल, **B** ग्रेड की भूमि से 8 क्विंटल, **C** ग्रेड से 6 तथा **D** ग्रेड से 4 क्विंटल गेहूँ का उत्पादन होता है। **D** ग्रेड की भूमि सबसे घटिया किस्म की भूमि है। इस पर कोई लगान नहीं मिलगा। परन्तु **A, B,** तथा **C** ग्रेड की भूमियों पर **D** ग्रेड की भूमि से जितनी उपज अधिक होगी, उतना ही लगान अधिक प्राप्त होगा। इस रेखाचित्र में लगान को छायादार भाग से प्रकट किया गया है।

चित्र 6.18

विस्तत खेती में लगान के निर्धारण को लागत वक्रों की सहायता से उपरोक्त चित्र 18 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

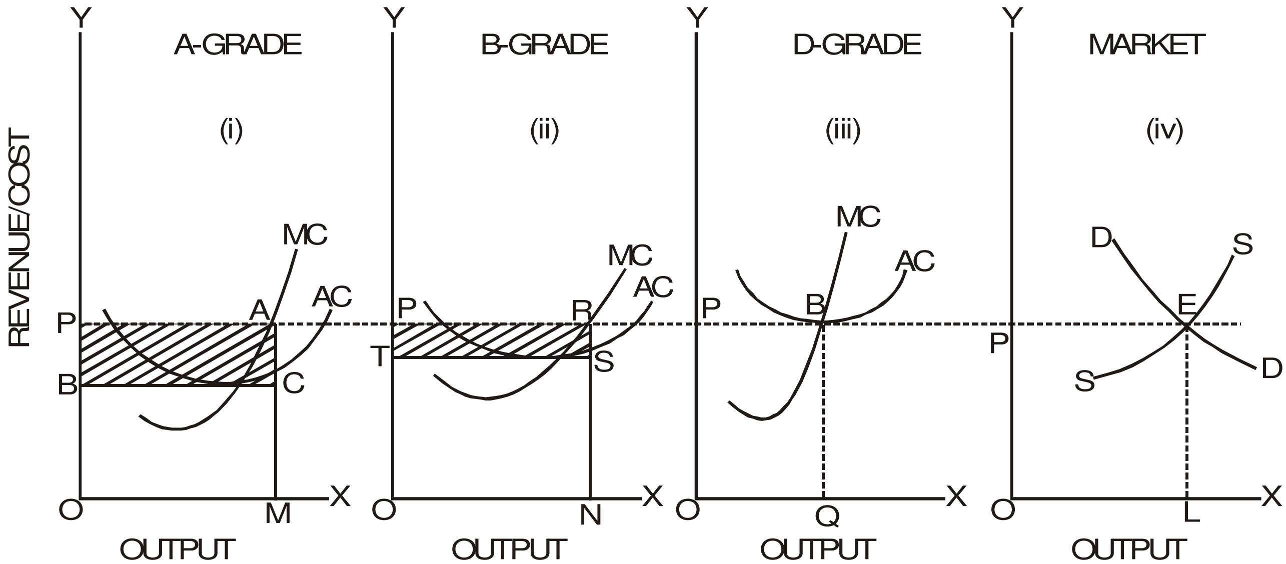

चित्र 6.19

चित्र 6.19 (i) में **A** ग्रेड भूमि अर्थात् सबसे अच्छी किस्म किस्म की भूमि पर लगान के निर्धारण को प्रकट किया गया है। 2 (ii) में **B** ग्रेड भूमि अर्थात् दूसरे ग्रेड की भूमि के लगान निर्धारण को प्रकट किया गया है। 2 (iii) में **C** ग्रेड भूमि अर्थात् सबसे घटिया किस्म की भूमि को प्रकट किया गया है। इस भूमि पर कोई लगान नहीं मिलेगा। इसे **लगान रहित (No Rent Land)** कहा जाएगा। चित्र 6.19 (iv) में भूमि की कुल माँग तथा पूर्ति वक्र दिखाए गए हैं जो बिन्दु **E** पर एक दूसरे को काट रहे हैं। इसलिए अनाज की कीमत **OP** निर्धारित होगी।

आर्थिक लगान का अनुमान अनाज की कीमत तथा औसत लागत के अन्तर द्वारा लगाया जाता है। अर्थात्

लगान (Rent)=कीमत– औसत लागत

रेखाचित्र 6.20 (iv) से ज्ञात होता है कि अनाज की कीमत **OP** निर्धारित होगी। **OP** कीमत पर (i) **'A'** ग्रेड की भूमि पर **PBCA** के बराबर लगान मिलेगा क्योंकि इस भूमि के उत्पादन की **कुल लागत OBCM** है तथा कुल आय **OPAM** है। इसलिए प्रति इकाई **AM -CM=AC** लगान प्राप्त होगा। कुल लगान **APBC** होगा। (ii) इसी प्रकार **'B'** ग्रेड की भूमि पर **PTSR** के बराबर लगान मिलेगा तथा (iii) सबसे घटिया भूमि अर्थात् **'C'** ग्रेड की भूमि पर कोई लगान नहीं मिलेगा क्योंकि **'C'** ग्रेड की भूमि के उत्पादन की कीमत **BQ** तथा औसत लागत **EL** बराबर हैं।

(2) गहन खेती में लगान (Rent in Intensive Cultivation)

गहन खेती उस खेती को कहते हैं जिसमें उत्पादन बढ़ाने के लिए भूमि के निश्चित क्षेत्रफल पर श्रम तथा पूँजी की अधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाता है। गहन खेती करने के फलस्वरूप श्रम तथा पूँजी की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से उपज में **घटते प्रतिफल के नियम** (Law of Diminishing Returns) के अनुसार वद्धि होती है। इसके फलस्वरूप एक भूस्वामी उस समय तक भूमि पर पूँजी तथा श्रम की इकाईयाँ लगाता जाएगा, जब तक उन इकाईयों से मिलने वाली सीमान्त उपज की कीमत तथा उन पर लगाई जाने वाली सीमान्त लागत बराबर न हो जाए। श्रम और पूँजी की जिस इकाई से मिलने वाला सीमान्त उत्पादन तथा

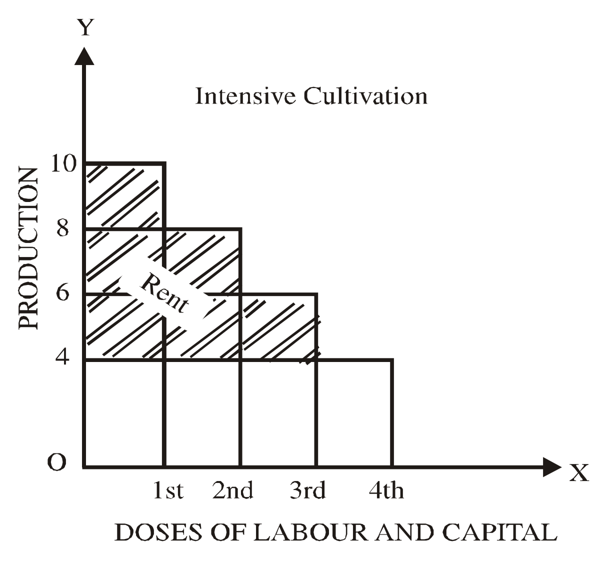

चित्र 6.20

सीमान्त लागत बराबर हो जाती है, उसे **सीमान्त इकाई** (Marginal Dose) कहा जाएगा। इस इकाई से पहले जितनी इकाईयाँ लगाई जाएँगी, वे **पूर्व सीमान्त इकाईयाँ** (Intra-marginal Doses) कहलायेंगी। **इन पूर्व सीमान्त इकाईयों तथा सीमान्त इकाई की उपज में जो अन्तर होगा, वह अन्तर ही लगान कहलाएगा।** इसे रेखाचित्र नं. 3 में **OX** अक्ष पर श्रम तथा पूँजी की इकाईयाँ व **OY** अक्ष पर उपज मापी गई है। मान लीजिए श्रम तथा पूँजी की चौथी इकाई अर्थात् सीमान्त इकाई से 2 क्विंटल का उत्पादन होता है। इससे पहली इकाईयों अर्थात् अन्तर सीमान्त इकाईयों पर क्रमशः 6 क्विंटल, 4 क्विंटल तथा 2 क्विंटल गेहूँ का लगान मिलेगा।

गहन खेती में प्राप्त होने वाले लगान को रेखाचित्र 6.21 की सहायता से भी प्रकट किया जा सकता है। रेखाचित्र 6.21 में **OX** अक्ष पर श्रम तथा पूँजी की इकाईयाँ दिखाई गई हैं तथा **OY** अक्ष पर लागत तथा उत्पादकता को प्रकट किया गया है। **पूर्ण प्रतियोगिता की अवस्था में WW** की रेखा पूँजी तथा श्रम की लागत को प्रकट कर रही है। मान लीजिए आरम्भ में भूमि से प्राप्त होने वाले उतपादन की एक निश्चित कीमत पर **ARP** औसत आय उत्पादकता तथा **MRP_1** वक्र सीमान्त आया उत्पादकता को प्रकट कर रही है। चित्र 10 से ज्ञात होता है कि **E** बिन्दु पर **ARP, MRP_1** तथा **WW** एक–दूसरे के बराबर हैं अतएव यह सन्तुलन अर्थात् अधिकतम लाभ की स्थिति होगी। इस स्थिति में श्रम तथा पूँजी की **OM** इकाईयाँ उत्पादन पर लगाई जाएँगी। इस **अवस्था में किसी प्रकार का लगान प्राप्त नहीं होगा** क्योंकि लागत तथा उत्पादकता बराबर हैं। मान लीजिए भूमि के उत्पादन की कीमत बढ़ जाने के कारण **MRP_1** ऊपर की ओर उठकर **MRP_2** हो जाती है। **E_1** बिन्दु नया सन्तुलन बिन्दु है। इस बिन्दु से ज्ञात होता है कि श्रम और पूँजी की पहले से अधिक इकाईयों अर्थात् **ON** इकाईयों का प्रयोग किया जाएगा। **ON** इकाईयों का कुल उत्पादन **ORE_1** होगा जबकि कुल लागत **OWE1 N** होगी। इस प्रकार काश्तकार को **$ORE_1N - OWE_1N = WRE_1$ आधिक्य (Surplus)** प्राप्त होगा। इस आधिक्य **WRE_1** को **लगान (Rent)** कहा जाएगा।

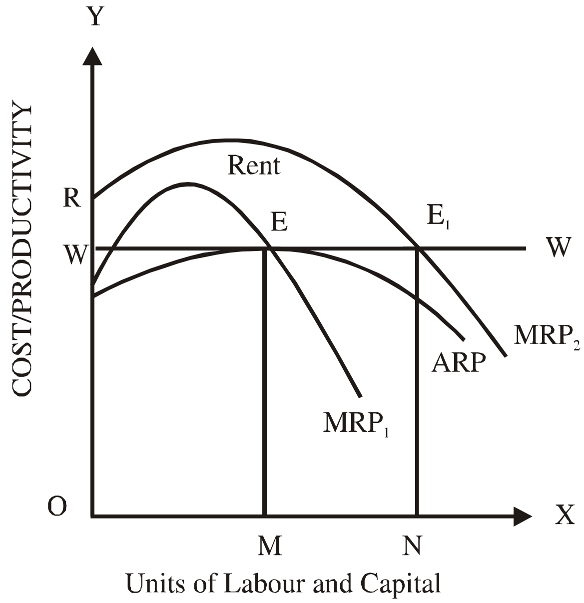

चित्र 6.21

रिकार्डो के सिद्धान्त के दोष या आलोचना
(Drawbacks or Criticism of Reicardian Theory of Rent)

रिकार्डो के सिद्धान्त में निम्नलिखित दोष पाए जाते हैं—

(1) भूमि की शक्ति न तो मौलिक है और न ही अविनाशक (Fertility of the Soil is Neither Original Nor Indestructible)—रिकार्डो के अनुसार, लगान भूमि की मौलिक और अविनाशी शक्तियों के प्रयोग से मिलता है परन्तु भूमि की कोई अविनाशी या मौलिक शक्तियाँ नहीं होतीं। यदि भूमि पर खाद आदि न डाली जाए तो उपजाऊपन समाप्त हो जाएगा। इसी प्रकार यदि अच्छी खाद का प्रयोग किया जाए और मुनष्य अधिक श्रम करे तो उत्पादन शक्ति बढ़ जाएगी। इसलिए भूमि की शक्ति न तो अविनाशक है और न ही मौलिक। **प्रो. हैने (Prof. Haney)** ने इस आलोचना का उत्तर देते हुए कहा कि इस वैज्ञानिक युग में भी जलवायु आदि ऐसे तत्त्व हैं, जिन्हें मनुष्य न तो बना सकता है और न ही नष्ट कर सकता है।

(2) इतिहास की दष्टि से निराधार (Historitcal Wrong)—**रिकार्डो** का यह कथन कि लोगों ने सबसे पहले अच्छी भूमि पर खेती की होगी, ऐतिहासिक दष्टि से गलत है। अमरिकन अर्थशास्त्री **केरी (Carey)** ने बताया कि यह सत्य नहीं है कि पहले अच्छी भूमि पर खेती की गई है। उसने अमेरिका के स्वतन्त्र होने के उदाहरण लेते हुए बताया कि सबसे पहले अच्छी भूमि नहीं जोती जाती, बल्कि घटिया और सुगमता से मिलने वाली भूमि को जोता है। इसका कारण यह है कि बढ़िया भूमि वनों से ढकी होती है।

(3) सीमान्त या लगान रहित भूमि (Marginal Land or No-Rent Land)—रिकार्डो ने अपने सिद्धान्त में यह बताया कि प्रत्येक देश में ऐसी भूमि होती है जिस पर लगान नहीं मिलता परन्तु आलोचकों के अनुसार प्रत्येक देश में लगान रहित

या सीमान्त भूमि का पाया जाना आवश्यक नहीं है। घनी आबादी वाले देश में घटिया से घटिया भूमि पर भी लगान मिलेगा।

(4) लगान उपजाऊपन के कारण नहीं बल्कि सीमितता के कारण मिलता है (Rent is not due to Fertility but due to Scarcity)—**रिकार्डो** का यह कथन गलत माना जाता है कि लगान भूमि के उपजाऊपन के अन्तर के कारण पाया जाता है। वास्तव में जैसा कि **माल्थस** ने बताया है कि लगान **सीमितता** के कारण मिलता है। यदि भूमि की उपजाऊ शक्ति एक समान है, परन्तु उसकी माँग पूर्ति से अधिक है, तो उस पर लगान मिलेगा।

(5) लगान कृषि उपज के मूल्य में शामिल नहीं होता है (Rent Does not Enter into Price)—**रिकार्डो** के अनुसार, लगान मूल्य में शामिल नहीं होता अर्थात् लगान के बढ़ने या कम होने से कीमतों में वद्धि या कमी नहीं होती बल्कि कीमत के बढ़ने या कम होने के कारण में वद्धि या कमी होती है। परन्तु वर्तमान अर्थशास्त्रियों के अनुसार कई परिस्थितियों में लगान कीमत में शामिल होता है।

(6) लगान केवल भूमि के लिए ही नहीं दिया जाता (Rent is not Paid only for Land)—**रिकार्डो** के अनुसार, लगान केवल भूमि के उपयोग के लिए दिया जाता है परन्तु वर्तमान अर्थशास्त्रियों जैसे—श्रीमती **रोबिन्सन** के अनुसार, लगान केवल भूमि के लिए ही नहीं बल्कि उत्पादन के सभी सीमित साधनों के लिए दिया जा सकता है। यह एक प्रकार की बचत है। जब किसी साधन की पूर्ति माँग से कम हो जाती है तो उसे अपनी न्यूनतम आय से कुछ अधिक आय प्राप्त होती है, यही लगान है।

(7) लगान उत्पन्न होने के कारणों पर उचित प्रकाश नहीं डालता (It does not throw Light on Determination of Rent)—**प्रो. ब्रिगस** और **जोर्डन** के अनुसार, **रिकार्डो** का सिद्धान्त केवल इस सामान्य सत्य को बताता है कि एक अच्छी वस्तु के लिए हमेशा ऊँची कीमत प्राप्त होगी। इस प्रकार एक अधिक उपजाऊ भूमि की कीमत उसकी अपेक्षा कम उपजाऊ भूमि से अधिक होगी, परन्तु यह इस बात को नहीं बताता कि लगान क्यों उत्पन्न होता है।

(8) केवल भूमि की मौलिक शक्ति के कारण उत्पादकता के माप में कठिनाई (Difficulty in Measuring the Productivity of Land only due to its Original Fertility) : आलोचकों का मत है कि भूमि की उत्पादकता पर भूमि की मौलिक शक्ति तथा उस पर लगाई गई पूँजी दोनों का प्रभाव पड़ता है। यह जानना लगभग असम्भव है कि भूमि की मौलिक शक्ति के कारण कितनी उत्पादकता प्राप्त हुई। इसकी जानकारी के बिना रिकार्डो के अनुसार लगान का निर्धारण असम्भव है।

(9) प्रत्येक भूमि में कुछ उपजाऊ शक्ति होती है (Every Land Some Fertility) : यदि रिकार्डो की परिभाषा को तर्कपूर्ण दष्टि से देखा जाए तो सीमानत भूमि, जिस पर कोई लगान नहीं मिलता, की कोई मौलिक उपजाऊ शक्ति नहीं होनी चाहिए, परन्तु आलोचकों के अनुसार रिकार्डों की यह धारणा गलत है कि सीमान्त या लगान रहित भूमि की कोई मौलिक उपजाऊ शक्ति नहीं होती। वास्तविकता यह है कि भूमि के प्रत्येक टुकड़े की कुछ न कुछ उपजाऊ शक्ति अवश्य होती है।

(10) पूर्ण प्रतियोगिता की अवास्तविक मान्यता (Unrealistic Assumption of Perfect Competition)—रिकार्डों का सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता की अवास्तविक धारणा पर आधारित है। इस धारणा के अनुसार सारे बाजार में एक कृषि वस्तु, जैसे गेहूँ की एक कीमत होगी जो सीमान्त भूमि की लागत के बराबर होगी। परन्तु वास्तविक जीवन में अपूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है तथा एक प्रकार की कृषि वस्तु की कीमतों पर वस्तु की क्वालिटी का भी प्रभाव पड़ता है। विभिन्न प्रकार की भूमि पर होने वाला उत्पादन विभिन्न क्वालिटि का हो सकता है, इस प्रकार रिकार्डों का यह कहना उचित नहीं है कि एक कृषि वस्तु की बाजार में एक ही कीमत होगी। इस धारणा के गलत होने के फलस्वरूप लगान का माप करना सम्भव नहीं होता।

(11) श्रम मूल्य सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Labour Theory of Value)—**रिकार्डो ने मूल्य के श्रम सिद्धान्त** का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार कृषि उपज का उत्पादन करने में जितने श्रम की आवश्यकता होती है उसके आधार पर उपज का मूल्य निर्धारित होता है। आधुनिक अर्थशास्त्री मूल्य के श्रम सिद्धान्त की आलोचना करते हैं। उसके अनुसार कृषि उपज का मूल्य उसकी लागत तथा माँग पर निर्भर करता है। अतएव सीमान्त भूमि पर उत्पादन की जाने वाली उपज का मूल्य केवल उस पर लगाए गए श्रम के द्वारा तय नहीं होगा।

(12) लगान का अधूरा सिद्धान्त (Incomplete Theory of Rent)—**रिकार्डो** के लगान सिद्धान्त से केवल यह ज्ञात होता है कि सारे समाज के दष्टिकोण से राष्ट्रीय आय में लगान का भाग कैसे निर्धारित होता है। इस सिद्धान्त के अध्ययन से यह ज्ञात नहीं होता कि उद्योग तथा फर्म के लिए लगान कैसे निर्धारित होता है।

(13) भूमि के वैकल्पिक उपयोग होते हैं (Alternative Uses of Land)—रिकार्डो की यह मान्यता भी गलत है कि भूमि का केवल एक प्रयोग होता है। वास्तव में भूमि के कई वैकल्पिक प्रयोग होते हैं जिनका भूमि की माँग तथा लगान पर प्रभाव पड़ता है।

निष्कर्ष (Conclusion)

रिकार्डो का लगान सम्बन्धी सिद्धान्त एक महत्त्वपूर्ण है। रिकार्डो ने सर्वप्रथम लगान की वैज्ञानिक ढंग से विवेचना करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि इस सिद्धान्त के कुछ दोष हैं। परन्तु इसका सैद्धान्ति तथा व्यावहारिक दोनों दष्टिकोणों से महत्त्व है। **सैद्धान्तिक दष्टिकोण** से रिकार्डो के सिद्धान्त से ज्ञात होता है कि जब किसी साधन की पूर्ति सीमित होती है तो उसकी माँग बढ़ने पर एक **आधिक्य (Surplus)** प्राप्त होता है। यह आधिक्य ही आर्थिक लगान है। लगान का आधुनिक सिद्धान्त इसी धारणा पर आधारित है। **व्यावहारिक दष्टिकोण** से समाजवादियों ने अपनी नीतियों जैसे जमींदारी उन्मूलन, भूमि का राष्ट्रीयकरण आदि का निर्णय करने के लिए रिकार्डो के सिद्धान्त की ही सहायता ली है। **प्रो. सीडनी** तथा **वैव** का यह मत था कि ''**रिकार्डो का सिद्धान्त सामूहिकता की आधारशिला है।'' (Ricardian Theory is the corner stone of Collectivism.) हैनरी जार्ज ने 'एक कर प्रणाली' (Single Tax System)** की नीति रिकार्डो के सिद्धान्त पर ही आधारित की थी। रिकार्डो के सिद्धान्त से यह अटल सत्य सिद्ध हो जाता है कि वैज्ञानिक उन्नति के होने के बावजूद भी संसार को खाद्य समस्या का सामना करना ही पड़ेगा। घटते प्रतिफल के नियम को अधिक देर तक लागू होने से नहीं रोका जा सकेगा। **प्रो. जीड** तथा **रिस्ट** ने ठीक ही कहा है कि **''रिकार्डो का सिद्धान्त उस समय ही व्यर्थ सिद्ध होगा जब अनाज वैज्ञानिक रूप से उत्पन्न किया जाने लगेगा लेकिन वह समय आने तक यह सिद्धान्त लागू होता रहेगा।''** (When albumen can be scientifically produced then the Ricardian Theory becomes obsolete until then it holds the field. Gide and Rist.)

लगान का आधुनिक सिद्धान्त (Modern Theory of Rent)

लगान का आधुनिक सिद्धान्त रिकार्डो के लगान सिद्धान्त का एक विस्तत तथा सुधरा हुआ रूप है। इस सिद्धान्त की व्याख्या सबसे पहले **जे. एस. मिल.** ने की थी। इसका विकास **जेवन्स, पेरिटो, मार्शल** तथा **जॉन रोबिन्सन** आदि अर्थशास्त्रियों ने किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार आर्थिक लगान एक **आधिक्य** (Surplus) है जो केवल भूमि के उपयोग के कारण ही प्राप्त नहीं होता बल्कि श्रम, पूंजी आदि साधनों की आय का भी एक भाग हो सकता है। इस सिद्धान्त का विस्तत अध्ययन करने के लिए आर्थिक लगान के व्यापक अर्थों का ज्ञान आवश्यक है। आधुनिक **अर्थशास्त्रियों के अनुसार आर्थिक लगान वह आय है जो उत्पादन के किसी साधन जैसे भूमि, श्रम, पूंजी आदि को उसकी कुल पूर्ति कीमत से अधिक मात्रा में प्राप्त होता है।** (Economic Rent may be defined as any payment of factor of production which is in excess of its total supply price) पूर्ति कीमत से अभिप्राय किसी साधन को अपने वर्तमान व्यवसाय में होने वाली न्यूनतम आय अर्थात् हस्तांतरण आय से है। हस्तांतरण आय वह न्यूनतम आय है जो उत्पादन के साधन को दूसरे कार्य में **हस्तांतरण** (Transfer) होने से रोकती है। लगान, उत्पादन के साधन की **वास्तविक आय** (Actual Earning) तथा **हस्तांतरण आय** (Transfer Earning) के अन्तर के फलस्वरूप होने वाली बचत है। अतएव Rent = Actual Earning - Transfer Earning ।

हस्तांतरण आय का अवसर लागत क्या है?
(What is Transfer Earning of Opportunity Cost?)

उत्पादन के प्रत्येक साधन के विभिन्न उपयोग होते हैं। जब हम उसका एक उपयोग से दूसरे उपयोग में हस्तांतरण करते हैं तो हमें पहले उपयोग से प्राप्त आय का त्याग करना पड़ता है। आय का यह त्याग ही हस्तांतरण आय कहलाता है। हस्तांतरण आय वह न्यूनतम आय है जो एक साधन को अवश्य ही मिलनी चाहिए तब ही वह दूसरे उपयोग में प्रयोग किया जा सकेगा। जैसे एक चौकीदार को एक कारखाने में 100 रुपये महीना वेतना मिलता है। वह चौकीदार दूसरे कारखाने में तभी जायेगा जब उसके 100 रुपये से अधिक वेतन प्राप्त होगा। इस चौकीदार की हस्तांतरण आय 100 रुपये है। **प्रो. बैनहम** के अनुसार, **"हस्तांतरण आय मुद्रा की वह मात्रा है जो उत्पादन के साधन की एक इकाई सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग में प्राप्त कर सकती है।"** (The amount of money which any particular unit could earn inits best paid alternative use, is called its transfer earning.—**Benham)** अतएव हस्तांतरण आय उत्पादन के साधन की वह आय है जो उसके दूसरे सबसे अच्छे वैकल्पिक प्रयोग में प्राप्त होती है, इसे **अवसर लागत** (Opportunity Cost) भी कहते हैं।

लगान की आधुनिक परिभाषाएं (Modern Definitions of Rent)

(i) स्टोनियर तथा **हेग** के अनुसार, **"लगान वह भुगतान है जो हस्तांतरण आय से अधिक होता है।"** (Rent is a payment in excess of Transfer Earning—**Stonier and Hauge)**

(ii) श्रीमती जोन रोबिन्सन के अनुसार लगान की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है, **"किसी साधन का लगान उस साधन की उस बचत को कहते हैं जो उसे काम पर लगाये रखने के लिए दी जाने वाली कम से कम रकम से अधिक होती है।"** (The essence of the conception of rent is the conception of surplus earned by a particular part of a factor of production over and above the minimum earning necessary to induce it to do its work. **—Mrs. Joan Robinson**)

लगान क्यों उत्पन्न होता है? (Why does Rent Arise?)

आधुनिक लगान सिद्धान्त, रिकार्डो के इस विचार से सहमत हैं कि लगान के उत्पन्न होने का मुख्य कारण भूमि सीमित होना है। उत्पादन के अन्य साधनों जैसे श्रम, पूंजी आदि की पूर्ति भी मांग से कम अर्थात् सीमित हो सकती है। इसके फलस्वरूप उन्हें अपनी न्यूनतम आय से जो अधिक आय प्राप्त होती है वह आर्थिक लगान है। आस्ट्रियन अर्थशास्त्री **प्रो. वीज़र** (Prof. Wieser) ने उत्पादन के सारे साधनों को दो भागों में बांटा है– **(i) विशिष्ट** (Specific) साधन तथा **(ii) अविशिष्ट** (Non-specific) साधन। विशिष्ट साधन वे हैं जिनका केवल एक ही प्रयोग होता है। जैसे एक खेत में केवल गेहूं ही उत्पन्न हो अथवा एक श्रमिक केवल एक ही फर्म में कपड़ा बनाने का काम करता है। इन साधनों में गतिशीलता बिलकुल नहीं होती। इसके विपरीत अविशिष्ट साधन हैं जिनमें गतिशीलता होती है जिनके विभिन्न उपयोग किये जा सकते हैं। साधनों की विशिष्टता ही लगान उत्पन्न होने का मुख्य कारण है। इसका कारण यह है कि विशिष्ट साधन का कोई दूसरा उपयोग नहीं होता। इसलिए उस साधन की **अवसर लागत** (Opportunity Cost) शून्य होती है। इस प्रकार के साधन को किसी दूसरे काम में हस्तांतरित नहीं किया जा सकता है अतएव उसकी **हस्तांतरण आय** (Transfer Earning) शून्य होती है। इसलिए उसकी सारी वास्तविक आय ही लगान कहलाती है। अतएव साधन की विशिष्टता के कारण लगान उत्पन्न होता है। उत्पादन का प्रत्येक साधन कुछ सीमा तक विशिष्ट तथा कुछ सीमा तक अविशिष्ट होता है। इसलिए एक साधन की आय में लगान का भाग उस अंश तक शामिल होता है, जिस अंश तक वह साधन विशिष्ट है अर्थात् वास्तविक आय साधन की हस्तांतरण आय से अधिक है।

लगान का निर्धारण (Determination of Rent)

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार जिस प्रकार किसी वस्तु की कीमत उसकी मांग तथा पूर्ति द्वारा तय होती है, उसी प्रकार लगान भी उत्पादन के साधन की पूर्ति तथा मांग द्वारा तय किया जाता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने लगान के निर्धारण का अध्ययन दो भागों में किया है।

(1) भूमि का लगान (Rent of Land)

(2) **वास्तविक आय तथा हस्तांतरण के अन्तर के रूप में लगान की सामान्य धारणा** (General concept of Rent as the difference between the actual earning and transfer earning)

भूमि के लगान का निर्धारण या लगान का दुर्लभता सिद्धान्त
(Determination of Rent of Land or Scarcity Theory of Rent)

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार लगान भूमि की दुर्लभता के कारण उत्पन्न होता है। भूमि की दुर्लभता का अर्थ यह है कि भूमि की मांग उसकी पूर्ति से अधिक है। भूमि का लगान वहीं पर निर्धारित होगा जहां भूमि की मांग तथा पूर्ति एक–दूसरे के बराबर होगी।

(1) भूमि की मांग (Demand for Land) : उत्पादन के अन्य साधनों के समान भूमि की मांग **व्युत्पन्न मांग** (Derived Demand) है। इसका अभिप्राय यह है कि भूमि की मांग कृषि पदार्थों की मांग पर निर्भर करती है। यदि कृषि पदार्थों जैसे अनाज की मांग बढ़ जाएगी तो भूमि की मांग बढ़ेगी। इसके विपरीत अनाज की मांग कम होने पर भूमि की मांग कम हो जाएगी।

भूमि की मांग पर उसकी सीमांत उत्पादकता का प्रभाव पड़ता है। जैसे–जैसे भूमि का अधिक प्रयोग किया जाता है, उसकी सीमान्त उत्पादकता घटती जाती है, अतः भूमि की मांग वक्र का ढलान ऊपर से नीचे की ओर होता है।

(2) भूमि की पूर्ति (Supply of Land) : एक अर्थव्यवस्था के लिए भूमि की पूर्ति **स्थिर** (Fixed) होती है। इसकी पूर्ति पूर्णतया **बेलोचदार** (Perfectly Inelastic) होती है। इसका अर्थ यह है कि भूमि की कीमत में वद्धि होने पर भी भूमि की पूर्ति में कोई वद्धि नहीं होगी।

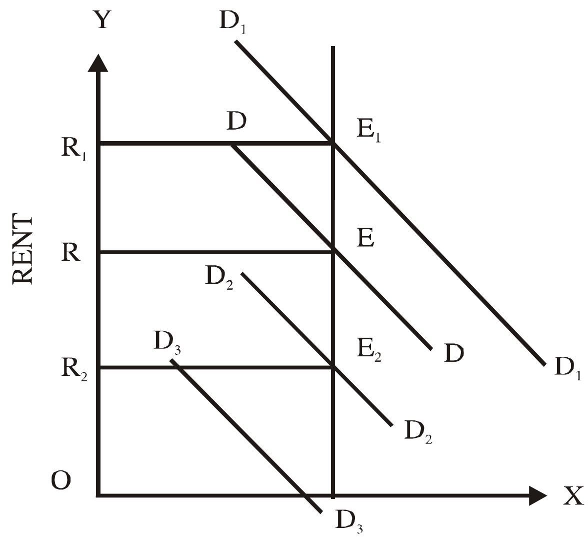

चित्र 6.22

भूमि के लगान का निर्धारण वहीं पर होगा जहां भूमि की मांग और पूर्ति वक्र एक–दूसरे को काटेंगी। इसको रेखाचित्र नं. 6.22 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। यह रेखाचित्र 6.22 में SS भूमि की पूर्त वक्र है। यह OY अक्ष के समानान्तर है। इससे सिद्ध होता है कि भूमि की कुल पूर्ति स्थिर अर्थात् OS है। DD भूमि की प्रारम्भिक मांग वक्र है, ये दोनों वक्रें E बिन्दु पर एक–दूसरे को काट रही हैं। इसलिए सन्तुलन की इस अवस्था में लगान OR निर्धारित होगा। यदि जनसंख्या बढ़ने के कारण भूमि की मांग वक्र ऊपर की ओर उठकर D_1D_1 हो जाती है तो सन्तुलन का या नया बिन्दु E_1 होगा तथा लगान बढ़कर OR_1 हो जाएगा। इसके विपरीत यदि भूमि की मांग वक्र नीचे की ओर सरक कर D_2D_2 हो सकती है तो सन्तुलन का नया बिन्दु E_2 होगा तथा लगान कम होकर OR_2 हो जाएगा। भूमि की मांग वक्र D_3D_3 भी हो सकती है। यह स्थिति उस समय होती है जब देश नया बसा हो। इस अवस्था में कोई लगान उत्पन्न नहीं होगा क्योंकि भूमि की मांग पूर्ति से कम है। उपरोक्त विवरण से सिद्ध होता है कि लगान के आधुनिक सिद्धान्त के अनुसार अन्य वस्तुओं की कीमत के समान भूमि का लगान वहीं निर्धारित होगा, जहां उसकी मांग तथा पूर्ति बराबर होगी।

वास्तविक आय तथा हस्तांतरण आय के अन्तर के रूप में लगान
(Rent as the difference between the Actual Earning and Transfer Earning)

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार वास्तविक आय तथा हस्तांतरण आय या **अवसर लागत** (Transer Earning or Opportunity Cost) का अन्तर होता है। इन अर्थो में लगान उत्पादन के प्रत्येक साधन जैसे पूंजी, श्रम तथा उद्यमी आदि की आय का एक भाग हो सकता है। परन्तु इन साधनों को लगान उसी समय प्राप्त होगा, जब इनकी पूर्ति **पूर्णतया लोच से कम** (Less than Perefectly Elastic) है। उत्पादन के साधनों की पूर्ति तीन प्रकार की हो सकती है।

(1) उत्पादन के साधनों की पूर्ति **पूर्णतया लोचदार** (Perfectly Elastic) हो सकती है। इस अवस्था में लगान **शून्य** (Zero) होता है।

(2) उत्पादन के साधनों की पूर्ति **कम लोचदार** (Less Perefectly Inelastic) हो सकती है। इस स्थिति में उत्पादन के साधन को प्राप्त होने वाली समस्त आय **लगान** कहलाती है।

(3) उत्पादन के साधन की पूर्ति **कम लोचदार** (Less Elastic) हो सकती है। इस अवस्था में साधन को प्राप्त होने वाली आय का वह भाग लगान कहलाएगा जो हस्तांतरण आय से अधिक है।

उत्पादन के साधनों की पूर्ति की लोच की विभिन्न अवस्थाओं में उत्पन्न होने वाले लगान का अध्ययन निम्नलिखित ढंग से किया जा सकता है :

(1) पूर्णतया लोचदार पूर्ति की अवस्था में लगान (Rent when Supply of a Factor is Perfectly Elastic) : किसी भी साधन की पूर्ति पूर्णतया लोचदार उस स्थिति में होती है जब प्रचलित दर पर साधन की मांग में परिवर्तन होने पर पूर्ति में भी उतना

ही परिवर्तन हो जाता है। अतएव वह साधन दुर्लभ नहीं होगा। प्रचलित दर पर साधन की कितनी भी मात्रा प्राप्त की जा सकती है। परिणामस्वरूप उसकी वास्तविक आय तथा हस्तांतरण आय बराबर रहेगी तथा इनका अन्तर शून्य होगा अतः लगान भी **शून्य** (Zero) होगा। अतएव इस स्थिति में वास्तविक आय = हस्तांतरण आय; (Actual Earning)=(Transfer Earning)

लगान=वास्तविक आय–हस्तांतरण आय=शून्य; (Rent)=(Actual Earning – Transfer Earning) = Zero

चित्र नं. 6.23 में OX अक्ष पर पूंजी की इकाइयां तथा OY अक्ष पर ब्याज की प्रतिशत दर दिखाई गई है। SS पूंजी की पूर्ति वक्र है। यह OX अक्ष के समानान्तर है जो दर्शाती है कि पूंजी की पूर्ति **पूर्णतया लोचदार** (Perfectly Elastic) है। मान लीजिए आरम्भ में पूंजी की मांग वक्र DD है। पूंजी की मांग वक्र DD उसकी पूर्ति वक्र SS को E बिन्दु पर काट रही है। इस बिन्दु पर पूंजी की मांग 20 लाख रुपये है तो पूर्ति भी 20 लाख रुपये है। तथाा ब्याज की दर 10 प्रतिशत है। यदि पूंजी की मांग में वद्धि होने के कारण मांग वक्र ऊपर की ओर खिसक कर $D_1 D_1$ हो जाए तो नया सन्तुलन बिन्दु E_1 होगा। इस नए सन्तुलन बिन्दु से ज्ञात होता है कि जब पूंजी की मांग बढ़कर 40 लाख रुपये हो गई है तो पूर्ति भी बढ़कर 40 लाख रुपये हो गई है। अतः ब्याज की दर पहले जितनी अर्थात् 10 प्रतिशत ही बनी रहेगी। **पूंजी के स्वामी को किसी प्रकार का लगान** (Rent) **प्राप्त नहीं होगा।**

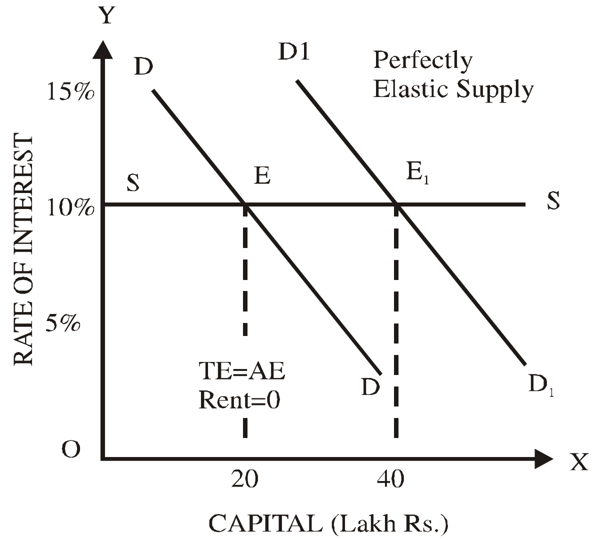

चित्र 6.23

(2) पूर्णतया बेलोचदार पूर्ति की अवस्था में लगान (Rent when Supply of Factors is Perfectly Inelastic) : उत्पादन के किसी साधन की पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार उस स्थिति में होती है जब साधन की मांग में वद्धि या कमी होने के फलस्वरूप उसकी पूर्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता। इस अवस्था में **हस्तांतरण आय** (Transfer Earning) शून्य होती है। इस स्थिति में हस्तांतरण आय के शून्य होने के कारण वास्तविक आय तथा हस्तांतरण आय का अन्तर **वास्तविक आय** के बराबर होगा। **अतः समस्स्त वास्तविक आय को लगान कहा जाएगा।** इस स्थिति में

लगान = वास्तविक आय (चूंकि हस्तांतरण आय शून्य है।)
Rent = Actual Earning, (Since Transfer Earning is Zero)

इस स्थिति को रेखाचित्र नं. 6.24 द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

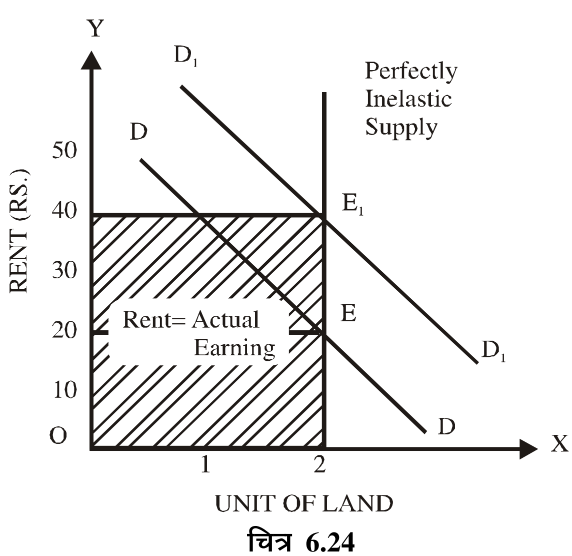

चित्र 6.24

यहां पर OX अक्ष पर भूमि की इकाइयां तथा OY अक्ष पर लगान प्रकट किया गया है। SS भूमि मी पूर्ति वक्र है। यह वक्र OY अक्ष के समानान्तर है। अतएव भूमि की कीमत बढ़ने या कम होने की पूर्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भूमि की मांग वक्र DD तथा पूर्ति वक्र SS द्वारा प्रकट होती है तो भूमि की मांग और पूर्ति में सन्तुलन E बिन्दु पर होगा। बिन्दु E पर भूमि की वास्तविक आय 20 रुपये होगी तथा हस्तांतरण आय शून्य होगी। इसलिए लगान भी 20 रुपये होगा। यदि भूमि की मांग वक्र ऊपर की ओर उठकर $D_1 D_1$ हो तो नया सन्तुलन बिन्दु E_1 होगा। इस सन्तुलन बिन्दु से ज्ञात होता है कि भूमि की मांग के बढ़ने पर लगान बढ़कर 40 रुपये हो गया। अतएव उस साधन की जैसे भूमि, जिसकी पूर्ति पूर्णतया बेलोचदार होती है सारी आय को लगान (Rent) कहा जाएगा।

(2) पूर्णतया लोच से कम पूर्ति की अवस्था में लगान (Rent when the Supply of Factor is Less than Perfectly

Elastic) : उत्पादन के किसी साधन की पूर्ति कम लोचदार उस स्थिति में होती है जब उस साधन की मांग में वद्धि होने के फलस्वरूप पूर्ति में कम वद्धि होती है। इस स्थिति में यदि साधन की मांग बढ़ जाती है तो पूर्ति में मांग के बराबर वद्धि नहीं होने के कारण उस साधन की वास्तविक आय उसकी हस्तांतरण आय से अधिक हो जाएगी। **उत्पादन के साधन को वास्तविक आय तथा हस्तांतरण आय के अन्तर के बराबर लगान प्राप्त होगा।** इस स्थिति को तालिका 2 तथा रेखाचित्र 8 द्वारा स्पष्ट किया गया है।

तालिका 6.4 : श्रम की पूर्ण लोच से कम पूर्ति

श्रम की मांग	प्रति श्रमिक वास्तविक आय (रु.)	प्रति श्रमिक हस्तांतरण आय (रु.)	लगान (रुपये
10	10	10	10 – 10 = 0
20	15	10	15 – 10 = 5
30	20	10	20 – 10 = 10

तालिका 2 द्वारा ज्ञात होता है कि जब श्रमिकों की मांग 10 है, उनकी हस्तांतरण आय तथा वास्तविक आय दोनों एक–दूसरे के बराबर अर्थात् 10 रुपये हैं। अतः 10 रुपये न्यूनतम मजदूरी की वह दर है जिससे कम पर श्रमिकों की कोई पूर्ति नहीं होगी अर्थात् कोई श्रमिक काम करने को तैयार नहीं होगा। यदि श्रमिकों की मांग बढ़कर 20 हो जाए परन्तु पूर्ति में उतनी वद्धि न हो तो मजदूरी की दर बढ़ेगी। इसके फलस्वरूप मजदूरों की वास्तविक आय बढ़कर 15 रुपये प्रति श्रमिक हो जाएगी परन्तु उसकी हस्तांतरण आय 10 रुपये प्रति श्रमिक ही होगी। इसलिए प्रत्येक श्रमिक को 15 रुपये—10 रुपये=5 रुपये का **लगान** (Rent) प्राप्त होगा। इसी प्रकार यदि श्रमिकों की मांग बढ़कर 30 हो जाए परन्तु पूर्ति में उतनी वद्धि न हो तो श्रमिकों की मजदूरी दर बढ़ेगी। इसके फलस्वरूप उनकी वास्तविक आय बढ़कर 20 रुपये प्रति श्रमिक हो जाएगी जबकि हस्तांतरण अथवा न्यूनतम आय 10 रुपये प्रति श्रमिक ही रहेगी। अतः प्रत्येक श्रमिक को 20 रुपये—10 रुपये=10 रुपये का लगान प्राप्त होगा।

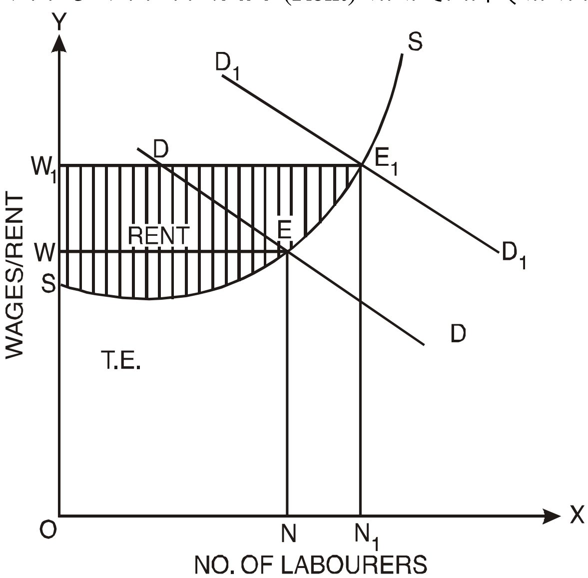

चित्र 6.25

चित्र नं. 6.25 में OX अक्ष पर श्रमिकों की संख्या तथा OY अक्ष पर मजदूरी तथा लगान प्रकट किये गये हैं। मान लीजिये प्रारम्भ में श्रमिक की मांग वक्र DD तथा पूर्ति वक्र SS है। मांग वक्र DD तथा पूर्ति वक्र SS बिन्दु E पर एक दूसरे को काट रहे हैं। इसलिए बिन्दु E सन्तुलन बिन्दु होगा। इस बिन्दु पर ON श्रमिकों की मांग की जायेगी तथा उन्हें OW मजदूरी दी जायेगी। श्रमिक की पूर्ति वक्र SS से ज्ञात होता है कि श्रमिकों की न्यूनतम पूर्ति कीमत OS है। इसलिये ON श्रमिकों की न्यूनतम पूर्ति कीमत या हस्तांतरण आय OSEN होगी। परन्तु मजदूरी की दर OW होने के कारण ON श्रमिकों को OWEN मजदूरी वास्तव में प्राप्त होगी। इस प्रकार ON श्रमिकों को

$$\textbf{OWEN – OSEN = SEW}$$

SEW लगान प्राप्त होगा। यदि श्रमिकों की मांग में वद्धि होने के कारण मांग वक्र ऊपर खिसक कर D_1D_1 हो जाती है तो ON_1 श्रमिकों की न्यूनतम मजदूरी OSE_1N_1 होगी। इस प्रकार ON_1 मजदूरों को

$$O\,W_1 E_1 N_1 - O\,S\,E_1 N_1 = S\,W_1 E_1$$

SW_1E_1 लगान प्राप्त होगा। अतः जैसे–जैसे श्रमिकों की मांग बढ़ती जायेगी उनकी वास्तविक आय तथा हस्तांतरण आय में भी अन्तर बढ़ता जायेगा, अर्थात् लगान बढ़ता जायेगा।

आभास लगान

अर्थशास्त्र में आभास लगान की धारणा का प्रयोग डॉ. मार्शल ने भूमि के अतिरिक्त मनुष्य द्वारा बनाए गए उन साधनों से प्राप्त अतिरिक्त आय के लिये किया है जिनकी पूर्ति अल्पकाल में स्थिर रहती है। मार्शल के अनुसार **वर्तमान पुस्तक में आभास लगान शब्द का प्रयोग उस आय के लिए किया जाएगा जो कि उत्पादन के लिए मनुष्य द्वारा मशीनों तथा अन्य औजारों से प्राप्त होती है।''** (The term Quasi Rent will be used in the present volume as income derived from machines and other appliances of production mae by man. **—Marshall**)। Quasi शब्द लैटिन भाषा से लिया गया है जिसके अर्थ हैं "as if." अतएव Quasi Rent से अभिप्राय है **''जैसा कि लगान''** है। मार्शल भी लगान सम्बन्धी रिकार्डो के आधार पर यह मानता था कि भूमि के लिए लगान इसलिए मिलता है क्योंकि भूमि की पूर्ति सीमित है। अल्पकाल में मनुष्य द्वारा निर्मित उत्पादन के साधनों की पूर्ति भी सीमित होती है। इसलिए इन साधनों की आय **''लगान''** जैसी होती है। परन्तु इन्हें लगान नहीं कहा जा सकता क्योंकि दीर्घकाल में इनकी पूर्ति को इनकी मांग के अनुसार बढ़ाया जा सकता है, इसलिए दीर्घकाल में इन्हें कोई **आधिक्य** (Surplus) या लगान नहीं मिलता। अतएव मनुष्यों द्वारा निर्मित पदार्थों को अल्पकाल में मिलने वाली आय लगान के समान है परन्तु दीर्घकाल में यह लगान के समान नहीं है। आभास लगान की धारणा को उत्पादन के उस किसी भी साधन की आय के लिए प्रयोग किया जा सकता है जिसकी पूर्ति अल्पकाल में स्थिर रहती है।

आभास लगान का विस्तत अर्थों में सम्बन्ध किसी विशेष साधन से नहीं है बल्कि इसका सम्बन्ध एक फर्म की कुल लागत से है। अल्पकाल में एक फर्म की कुल लागत दो प्रकार की होती है, **बंधी लागत** (Fixed Costs) तथा **घटती बढ़ती लागत** (Variable Costs)। अल्पकाल में एक फर्म, मांग के कम होने पर उस समय तक उत्पादन करती रहेगी जब तक उसे **घटती बढ़ती लागतें** (Variable Costs) मिलती रहेंगी तथा केवल **बंधी लागतों** (Fixed Costs) की हानि उठानी पड़ेगी। इस प्रकार एक फर्म अल्पकाल में घटती बढ़ती लागतों से जितनी अधिक **आय** प्राप्त करेगी, वह **आभास लगान** (Quasi Rent) कहलाएगा। **प्रो. बिलास** के अनुसार, **''कुल आय तथा कुल घटती बढ़ती लागतों के अन्तर को आभास लगान कहते हैं।''** (Quasi Rent is the difference between total revenue and total variable cost.—Bilas)

Quasi Rent = Total Revenue – Total Variable Cost

मान लीजिए एक कम्बल बनाने वाली मशीन 10 कम्बल बनाती है, जिनकी कीमत 1,000 रुपये है। यदि इन कम्बलों पर लगाई गई ऊन, मजदूरी आदि घटती–बढ़ती लागतें भी 1,000 रुपये हैं, तो फर्म को कोई आभास लगान नहीं मिलेगा। मान लीजिए अल्पकाल में कम्बलों की मांग बढ़ने के कारण कीमत बढ़कर 1,200 रुपये हो जाती है परन्तु घटती बढ़ती लागत 1,000 रुपये ही रहती है। इस स्थिति में फर्म को, 1,200 – 1,000=200 रुपये का आधिक्य प्राप्त होगा। यह **आभास लगान** कहलाएगा। यदि आभास लगान दीर्घकाल में भी मिलता रहे तो नई फर्में कम्बल बनाने लगेंगी अथवा पुरानी फर्में नई मशीनें लगाकर उत्पादन बढ़ा देंगी। इसके फलस्वरूप फर्मों को केवल घटती बढ़ती लागतें ही प्राप्त हो सकेंगी, इसलिए आभास लगान समाप्त हो जाएगा। अतएव आभास लगान दीर्घकाल में नहीं मिलता क्योंकि दीर्घकाल में कीमत तथा घटती बढ़ती लागतें बराबर हो जाती हैं।

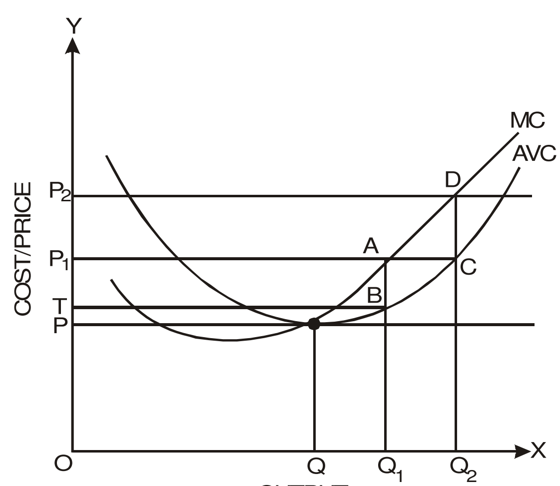

चित्र 6.26

रेखाचित्र 6.26 में OX अक्ष पर वस्तु की मात्रा तथा OY अक्ष पर कीमत तथा लागत प्रकट की गई है। MC वक्र सीमान्त लागत वक्र है। AVC औसत घटती बढ़ती लागत वक्र है। यदि कीमत OP है तो उत्पादन OQ होगा। फर्म सन्तुलन में होगी। क्योंकि वस्तु की कीमत औसत घटती बढ़ती लागत के बराबर है। फर्म को कोई आभास लगान नहीं मिल रहा है। यदि कीमत बढ़ कर OP_1 ($=AQ_1$) हो जाएगी तो फर्म OQ_1 मात्रा का उत्पादन करेगी। OQ_1 मात्रा की कीमत (AQ_1) उसकी घटती बढ़ती लागत (BQ_1) से AB के बराबर अधिक है। इसलिए फर्म को प्रति इकाई AB ($AQ_1 - BQ_1 = AB$) आभास लगान प्राप्त होगा। कुल आभास लगान $ABTP_1$ होगा। इसी प्रकार यदि कीमत बढ़कर OP_2 ($=DQ_2$) हो जाती है तो आभास लगान बढ़कर DCP_1P_2 हो जायेगा।

Unit-7

कीमतों के साधन-II
(Factor Pricing-II)

ब्याज (Interest)

साधारणतया पूंजी के सेवाओं के लिए किए जाने वाले भुगतान को ब्याज कहा जाता है परन्तु अर्थशास्त्र में पूंजी शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है। पूंजी शब्द का प्रयोग मशीनों, इमारत, कारखानों तथा नकद पूंजी के लिए किया जाता है। पूंजी की इन सभी विभिन्न प्रकार की सेवाओं के लिए किया जाने वाला भुगतान ब्याज नहीं कहलाता है। ब्याज शब्द का प्रयोग केवल मुद्रा रूपी पूंजी के लिए एक निश्चित समय के लिए प्रयोग करने के लिए दिए जाने वाले भुगतान के लिए किया जाता है। इसलिए ब्याज को प्रतिशत के रूप में प्रकट किया जाता है। अतएव अर्थशास्त्र में मुद्रा की सेवाओं के लिए दिया जाने वाला भुगतान ब्याज कहलाता है।

प्रो. मैकोनल के अनुसार "ब्याज वह कीमत है जो मुद्रा या ऋण योग्य कोष की सेवाओं के लिए दी जाती है।"

कुल ब्याज तथा शुद्ध ब्याज
(Gross Interest and Net Interest)

1. कुल ब्याज : ऋणी द्वारा पूंजी के प्रयोग के लिए ऋणदाता को जो कुल भुगतान किया जाता है, उसे कुल ब्याज कहते हैं।

कुल ब्याज के अंगः—इसमें निम्न तत्वों को शामिल किया जाता है :

(i) शुद्ध ब्याजः—शुद्ध ब्याज, जोकि केवल मुद्रा की सेवाओं के उपयोग के लिए दिया जाता है, वह कुल ब्याज का अंग है।

(ii) जोखिम का पुरस्कारः—ऋणदाता को रुपया उधार देने में जोखिम उठानी पड़ती है। उसे यह डर होता है कि यह रुपया वापिस मिलेगा या नहीं।

(iii) प्रबंध का पुरस्कारः—ऋणदाता को ऋण देते और लेते समय कई प्रकार के प्रबंधों पर रुपया खर्च करना पड़ता है। ऋणदाता रुपये का हिसाब–किताब रखने के लिए मुनीम रखता है, रुपया न मिलने पर कानूनी कार्यवाही करना इत्यादि जो प्रबंध है, उनके लिए भी पुरस्कार कुल ब्याज में सम्मिलित होता है।

(iv) असुविधाओं के लिए पुरस्कारः—ऋणदाता को ऋण देने में बहुत ही असुविधा का सामना करना पड़ता है। यह सम्भव है कि आवश्यकता पड़ने पर ऋणदाता को रुपया वापसि न मिले और उसे कहीं और से उधार लेना पड़े। ऋणी के इंकार करने पर मुकदमा इत्यादि चलाने की असुविधा भी ऋणदाता को उठानी पड़ती है। इन सब असुविधाओं के लिए भी ऋणदाता कुछ पुरस्कार प्राप्त करता है। इसे भी कुल ब्याज में शामिल किया जाता है।

2. शुद्ध ब्याजः—शुद्ध ब्याज वह धनराशि है जो केवल मुद्रा के प्रयोग के बदले दी जाती है।

ब्याज का प्रतिष्ठित सिद्धान्त
(Classical Theory of Interest)

ब्याज के बारे में सबसे पहले सिद्धान्त को प्रतिष्ठित या वास्तविक सिद्धान्त कहते हैं। इसे वास्तविक सिद्धान्त कहते हैं, क्योंकि यह वास्तविक कारकों जैसे पूंजी की उत्पादकता, बचत की प्रवत्ति आदि पर आधारित है। इस सिद्धान्त के दो भाग हैं। पहला भाग यह है कि ब्याज की दर क्यों उत्पन्न होती है। दूसरा यह कि उसके अनुसार ब्याज का दर निर्धारण किस प्रकार होता है।

(i) ब्याज क्यों उत्पन्न होता हैः—इसके बारे में विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अलग–अलग सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं।

पूंजी की सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त

कुछ अर्थशास्त्रियों जैसे माल्थस, जे.वी.से. आदि का विचार था कि पूंजी पर ब्याज इसलिए दिया जाता है कि क्योंकि पूंजी की अपनी उत्पादकता शक्ति होती है। पूंजी द्वारा उत्पादन अधिक होता है, अतः पूंजी प्राप्त करने वाला ब्याज देने को तैयार हो जाता है किन्तु ब्याज क्यों दिया जाता है। यह सिद्धान्त इसकी पूर्ण व्याख्या नहीं करता अतएव यह सिद्धान्त ब्याज के केवल मांग पक्ष की व्याख्या करता है। पूर्ति पक्ष को यह सिद्धान्त विचार में नहीं लाता है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त इस बार की व्याख्या नहीं करता कि उपभोग के लिए दिए गए ऋण पर ब्याज क्यों दिया जाता है।

आलोचना

(1) यह सिद्धान्त ब्याज के लिए केवल मांग पक्ष का अध्ययन करता है। इसमें ब्याज पर पूंजी की पूर्ति के पड़ने वाले प्रभाव की अवहेलना की गई है।

(2) यह सिद्धान्त उपभोग ऋणों पर दिए जाने वाले ब्याज की व्याख्या नहीं करता।

(3) पूंजी की उत्पादकता का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है क्योंकि पूंजी उत्पादन के दूसरे साधनों की सहायता के बिना कोई उत्पादन नहीं कर सकती।

उपभोग स्थगन तथा प्रतीक्षा सिद्धान्त

Abstinence and Waiting Theory

उपभोग स्थगन का सिद्धान्त प्रसिद्ध अर्थशास्त्री सीनियर ने प्रतिपादित किया। उनके विचार में बचत करने में व्यक्ति कुछ त्याग करता है और यह त्याग है उपभोग का स्थगन। उपभोग की स्थगित करना एक दुःखद बात है, इसलिए व्यक्ति को उपभोग का स्थगन करने को प्ररित करने के लिए कुछ पुरस्कार मिलना चाहिए और यह पुरस्कार ब्याज ही है। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज उपभोग स्थगन का ही पुरस्कार है। समाजवादी लेखक कार्ल मार्क्स द्वारा सीनियर के इस सिद्धान्त पर आपत्ति की गई। उन्होंने बताया कि धनी व्यक्तियों द्वारा अपनी सभी आवश्यकताएँ पूरी करने के पश्चात् जो कुछ बचता है वह वे ऋण पर देते हैं। अतः उनके लिए विचार में धनी व्यक्ति कोई उपभोग के स्थगन का त्याग नहीं करते। मार्क्स की आलोचना के कारण ही मार्शन ने उपभोग के स्थगन के स्थान पर प्रतीक्षा शब्द किया है। उनके अनुसार जब कोई व्यक्ति रुपया बचाकर किसी को ऋण देता है तो कुछ समय तक उसका उपभोग नहीं कर पाता और प्रतीक्षा में रहता है और इस प्रतीक्षा के बलिदान के लिए ही उसे ब्याज दिया जाता है।

आलोचना

(1) यह सिद्धान्त एकपक्षीय है। इसमें केवल पूर्ति के पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। ब्याज पर मांग के पड़ने वाले प्रभाव की अवहेलना की गई है।

(2) यह सिद्धान्त ब्याज निर्धारण का एक अधूरा सिद्धान्त है। ब्याज केवल उपभोग या प्रतीक्षा का पुरस्कार नहीं है।

ब्याज का बट्टा सिद्धान्त

Agio Theory

यह सिद्धान्त आस्ट्रियान अर्थशास्त्री वाम बावर्क ने प्रस्तुत किया। उसके अनुसार ब्याज इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि मनुष्य ही भावी उपभोग की अपेक्षा वर्तमान उपभोग को अधिक पसन्द करता है। मनुष्य अपनी भावी आवश्यकताओं को वर्तमान आवश्यकताओं की तुलना में कम महत्व देते हैं। ब्याज वह प्रलोभन है जो मनुष्य को अपने उपभोग को किसी भविष्य समय तक स्थगित करने के लिए दिया जाता है।

बाम बावर्क ने मनुष्य द्वारा भावी आवश्यकताओं को कम महत्व देने और वर्तमान उपभोग को अधिमान्यता देने के दो कारण बतलाए हैं। पहला यह कि मनुष्य अपनी भावी आवश्यकताओं की तीव्रता को नहीं जान सकता और उसकी वर्तमान की आवश्यकताएं अधिक तीव्र और प्रबल होती है। दूसरा यह है कि भविष्य अनिश्चित है और इसलिए मनुष्य अपनी उपभोग की सन्तुष्टि को अनिश्चित भविष्य में स्थगित नहीं करना चाहता। इस भविष्य के बट्टे के कारण ही मनुष्य को बचत करने तथा ऋण देने के लिए ब्याज देना पड़ता है।

फिशर का समय अधिमान्यता सिद्धान्त

यह सिद्धान्त इर्विंग फिशर ने प्रस्तु किया और उनका सिद्धान्त बाम बावर्क के बट्टा सिद्धान्त से काफी मिलता–जुलता है। ब्याज क्यों दिया जाता है की व्याख्या फिशर समय अधिमान्यता द्वारा करता है। समय अधिमान्यता से तात्पर्य एक समान मूल्य वाली तथा समान निश्चितता की भावी तुष्टि की अपेक्षा मनुष्य वर्तमान तुष्टि को अधिक अधिमान्यता देता है। वर्तमान तुष्टि के लिए अधिमान्यता के कारण ही वह अपनी आय को वर्तमान उपभोग पर व्यय करने के लिए व्यग्र रहता है। मनुष्य रुपया बचाकर ऋण देने के लिए तभी प्रेरित होगा जब उसे कोई प्रलोभन दिया जाए और यह प्रलोभन है ब्याज। अतएव ब्याज वह कीमत है जो मनुष्य द्वारा अपनी आय को वर्तमान उपभोग पर व्यय करने के लिए व्यग्रता को दूर करने के लिए दी जाती है।

ब्याज दर का निर्धारण

Determination of Rate of Interest

इस सम्बन्ध में तीन मुख्य सिद्धान्त हैः–

ब्याज का परम्परावादी सिद्धान्त

ब्याज के परम्परावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन जे.एस.मिल, मार्शल आदि अर्थशास्त्रियों ने किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पादकता, मितव्यतिता, त्याग आदि वास्तविक तत्वों के कारण ब्याज उत्पन्न होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज का निर्धारण पूंजी की मांग तथा पूंजी की पूर्ति द्वारा होता है।

(i) पूंजी की मांगः–पूंजी की मांग उन उद्यमियों द्वारा होती है जो रुपया ब्यापार अथवा उद्योग में लगाना चाहते हैं। इन पूंजी पदार्थों द्वारा उपभोक्ता वस्तुएं उत्पादित करने में समय लगता है। पूंजी पदार्थों द्वारा वस्तुएं अधिक मात्रा में तथा अच्छी गुणवत्ता की बनाई जा सकती है। अतएव बचत की मांग वास्तव में पूंजीगत पदार्थों अथवा निवेश से उत्पादकता प्राप्त करने के लिए की जाती है। एक उद्यमी अन्य साधनों को स्थिर रख कर पूंजी की सीमान्त उत्पादकता का अनुमान लगा सकता है। पूंजी की सीमान्त उत्पादकता पर घटते प्रतिफल का नियम लागू होता है। इसलिए पूंजी की मांग या निवेश अधिक किया जाता है तो पूंजी की सीमान्त उत्पादकता कम दी जाती है। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति में एक उद्यमी पूंजी की मांग उस सीमा तक करेगा जहाँ पूंजी की कीमत अर्थात ब्याज तथा सीमान्त उत्पादकता बराबर हो जाए।

(ii) पूंजी की पूर्तिः–पूंजी की पूर्ति बचत पर निर्भर करती है। बचत उस समय होगी जब लोग अपनी आय को उपभोग पर कम व्यय करेंगे। इस सिद्धान्त के अनुसार बचत की पूर्ति पर उपभोग स्थगन, प्रतीक्षा, समय अधिमान आदि पर वास्तविक तत्वों का प्रभाव पड़ता है। इन वास्तविक तत्वों की पूर्ति में परिवर्तन आने से बचत की मात्रा में भी परिवर्तन आ जाता है। ये वास्तविक तत्व ब्याज की दर पर निर्भर करते हैं।

मांग और पूर्ति का सन्तुलन
या
ब्याज दर का निर्धारण

अब हम देखेंगे कि मांग और पूर्ति की शक्तियों की परस्पर क्रिया से ब्याज की दर कैसे निर्धारित होगी। ब्याज की दर उस स्तर पर निर्धारित होगी जिस पर निवेश के लिए बचतों की मांग और बचतों की पूर्ति एक दूसरे के बराबर होगी। इसे निम्न रेखाचित्र में दिखाया गया हैः–

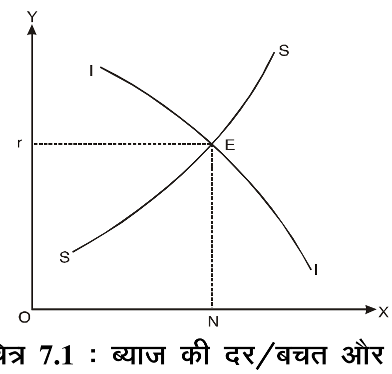

चित्र 7.1 : ब्याज की दर/बचत और निवेश

रेखाचित्र में II निवेश मांग वक्र है और SS बचतों की पूर्ति वक्र है। निवेश मांग वक्र II बचत पूर्ति वक्र SS एक दूसरे को or ब्याज की दर पर काटते हैं। अतएव ब्याज दर or निर्धारित होगी। इस सन्तुलित ब्याज की दर पर निवेश के लिए बचत की मांग और बचत की पूर्ति दोनों ON मात्रा के बराबर है।

आलोचना

इस सिद्धान्त की निम्न प्रकार से आलोचनात्मक समीक्षा की जा सकती है :

1. पूर्ण रोजगार की गलत मान्यताः—ब्याज के इस सिद्धान्त की साधनों के पूर्ण रोजगार की पूर्व मान्यता करने के लिए आलोचना की गई है। यह आपत्ति की गई कि साधनों के पूर्ण रोजगार की पूर्व मान्यता गलत और अपदार्थ है। साधनों के पूर्णरोजगार की स्थिति से अधिक निवेश उपभोग को घटा कर ही सम्भव हो सकता है क्योंकि उपभोग को घटा देने से उत्पादन के साधन उपभोक्ता पदार्थों से निकालकर पूंजी–पदार्थों के उत्पादन में लगाए जा सकते हैं। इसलिए जब साधनों को पूर्ण रोजगार प्राप्त होता है तो लोगों को उपभोग का त्याग करने के लिए प्रेरित करने के लिए ब्याज देना पड़ता है। जब साधन बड़ी मात्रा में बेकार पाए जाते हैं तब लोगों को अधिक बचत करने के लिए उपभोग का परित्याग करने के लिए प्रेरित करने की आवश्यकता नहीं होती। ऐसी अवस्था में उप्रयुक्त उत्पादन के साधनों को काम पर लगाकर अधिक निवेश सम्भव हो सकता है।

2. आय स्तरों में परिवर्तन की उपेक्षाः—पूर्व रोजगार की मान्यता ग्रहण करके इस सिद्धान्त ने आय स्तर में परिवर्तनों तथा उसके बचत और निवेश पर प्रभाव की उपेक्षा की है। यह सिद्धान्त ब्याज दर और बचत की मात्रा के बीच सीधा फलन सम्बन्ध स्थापित करता है। जैसे ब्याज की दर बढ़ती है, बचत की मात्रा भी अधिक होती है परन्तु ब्याज की ऊंची दर पर निवेश के लिए मांग घट जाती है जिसके परिणामस्वरूप ब्याज की दर घटकर उस स्तर तक पहुंच जाती है जहाँ बचत तथा निवेश में और ब्याज की दर में सीधा फलन सम्बन्ध संदेहपूर्ण है और दूसरा इसलिए कि जब ब्याज दर बढ़ने के फलस्वरूप अधिक बचत की जाती है तो बचत की इस अधिक मात्रा में अधिक निवेश होना चाहिए क्योंकि इस सिद्धान्त में निवेश, बचत की मात्रा द्वारा निर्धारित होता है। इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त की प्रक्रिया में आय में परिवर्तन को बिल्कुल ही विचार में नहीं लाया गया है। वस्तुतः जब ब्याज की दर बढ़ती है और फलस्वरूप निवेश घट जाता है तो आय में कमी हो जाएगी। आय में कमी हो जाने से बचत की मात्रा घट जाएगी। अतएव बचत और निवेश में समानता ब्याज दर में परिवर्तन द्वारा नहीं होती, बल्कि यह तो आय में परिवर्तन द्वारा होती है।

3. वर्तमान आय में बचत मुद्रा राशि की पूर्ति का केवल मात्र स्रोत नहीं हैः—वर्तमान आय में से बचत ही मुद्रा पूर्ति का एकमात्र स्रोत नहीं है। लोगों के पास प्रायः वर्षों में संचित किया हुआ धन भी होता है जिसको किसी वर्ष भी निकाला जा सकता है जिससे बाजार में ऋण योग्य राशियों की पूर्ति बढ़ जाती है।

4. अल्प उपभोग के निवेश पर प्रतिकूल प्रभाव की उपेक्षाः—इस सिद्धान्त के अनुसार अधिक निवेश उपभोग घटाने से ही सम्भव हो सकता है। उपभोग में जितनी अधिक कमी की जाएगी उतनी अधिक मात्रा में पूंजी पदार्थों में निवेश होगा। जैसा कि हम जानते हैं पूंजी पदार्थों की मांग उपभोक्ता पदार्थों के लिए मांग से उत्पन्न होती है। इसलिए उपभोग में कमी जिसका अर्थ है उपभोक्ता पदार्थों के लिए मांग में कमी पूंजी पदार्थों की मांग को घटा देगी और इस प्रकार निवेश की प्रेरणा पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगी। उपभोग की इस कमी के निवेश पर प्रतिकूल प्रभाव की इस सिद्धान्त में उपेक्षा की गई है।

5. बचत अनुसूची का निवेश अनुसूची से स्वतंत्र होने की पूर्व मान्यताः—पूर्ण रोजगार तथा स्थिर आय के स्तर के पूर्व मान्यता का एक और भाव यह है कि इससे बचत अनुसूची में परिवर्तन के बिना निवेश मांग की अनुसूची में परिवर्तन होना माना गया है। उदाहरण के लिए रेखाचित्र में निवेश मांग वक्र घट जाने से नीचे की ओर सरक कर $1^1 1^1$ की स्थिति में आ जाता है तो ब्याज की गई संतुलन दर r^1 हो जाएगी जिस पर नया निवेश वक्र $1^1 1^1$ दिए गए पूर्ति वक्र SS को काटता है किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि निवेश में कमी के फलस्वरूप आय घट जायेगी चूँकि बचत का पूर्ति वक्र किसी दिए हुए आय स्तर को स्थिर मानकर खींचा जाता है, इसलिए जब आय घटती है तो बचत पहले की तुलना में कम हो जाएगी जिसके कारण बचत का पूर्ति वक्र दाईं और नीचे को सरक जाएगा, परन्तु इस सिद्धान्त में निवेश में परिवर्तन के फलस्वरूप आय स्तर में परिवर्तन होना नहीं माना जाता और बचत अनुसूची को निवेश अनुसूची से बिल्कुल स्वतंत्र होना समझा जाता है जो कि ठीक नहीं है।

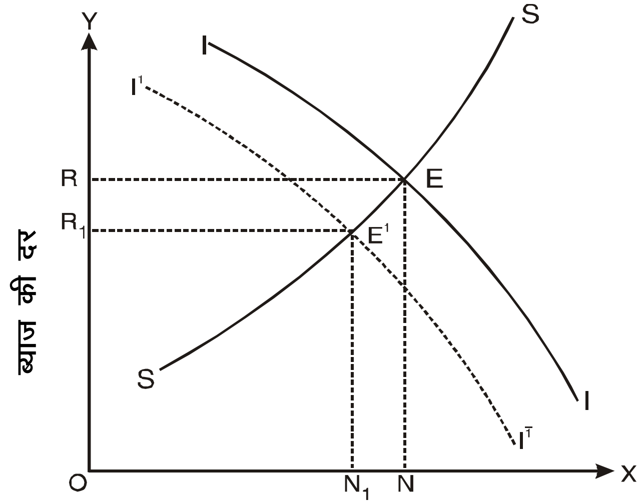

चित्र 7.2 : बचत और निवेश

ऋण-योग्य राशियों का सिद्धान्त
अथवा
नव-प्रतिष्ठित सिद्धान्त

इस सिद्धान्त को विकसित करने वाले अर्थशास्त्रियों में प्रमुख हैं विकसेल, बर्ढिल, राबर्टसन आदि। इस सिद्धान्त के अनुसार वास्तविक शक्तियाँ जैसे कि बचत करने की भावना, प्रतीक्षा, समय अधिमान्यता तथा पूंजी की उत्पादकता ही केवल ब्याज दर को निर्धारित नहीं करते बल्कि मुद्रा का संचय तथा असंचय करना, बैंकों द्वारा मुद्रा का सजन, उपभोग के प्रयोजनों के लिए मुद्रा–ऋण की मांग भी ब्याज दर के निर्धारण में भाग लेते हैं। इस प्रकार इस सिद्धान्त में ब्याज का निर्धारण मौद्रीक और गैर–मौद्रीक दोनों ही प्रकार की शक्तियों द्वारा होना माना गया है।

ब्याज दर का निर्धारण : इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर उस स्तर पर निर्धरित होती है जिस पर ऋण योग्य कोष की मांग तथा पूर्ति बराबर होती है। इसे निम्न रेखाचित्र में दिखाया गया है।

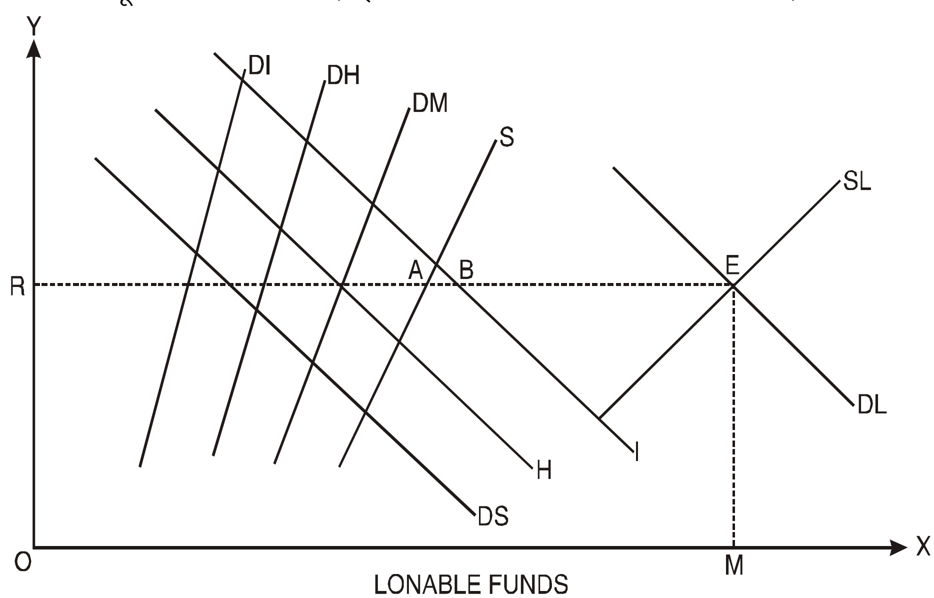

चित्र 7.3

इस सिद्धान्त को समझने के लिए ऋण योग्य कोष की मांग तथा पूर्ति का विस्तत अध्ययन करना आवश्यक है।

ऋण योग्य कोष की मांग (Demand for Loanable Funds) : ऋण योग्य कोष की मांग मुख्य रूप से तीन क्षेत्रों द्वारा की जानी है। ये क्षेत्र निम्नलिखित हैंः–

(i) निवेश मांगः—ऋण योग्य कोष की मांग का मुख्य स्रोत फर्मों द्वारा निवेश के लिए की जाने वाली मुद्रा की मांग है।

(ii) उपभोगः—जब लोग अपनी आय से अधिक उपभोग पर खर्च करते हैं तो उन्हें ऋण लेना पड़ता है। अतएव उपभोग के लिए ऋण योग्य कोषों की मांग निजी व्यक्तियों तथा परिवारों द्वारा की जाती है। साधारणतः ब्याज की कम दर पर अधिक उपभोग ऋण लिए जाते हैं।

(iii) संचयः—ऋण योग्य कोषों की मांग उन व्यक्तियों द्वारा भी की जाती है जो मुद्रा का नकद रूप से संचय करना चाहते हैं।

ऋण योग्य कोष की पूर्ति (Supply of Loanable Funds) : ऋण योग्य कोष की पूर्ति मुख्य रूप से चार बातों पर निर्भर करती हैः—

(i) बचतः—यह ऋण योग्य कोष की पूर्ति का मुख्य साधन है। बचतें व्यक्तिगत क्षेत्र, व्यावसायिक क्षेत्र तथा सरकारी क्षेत्र तीनों द्वारा की जाती है।

(ii) बैंक साखः—यह ऋण योग्य कोष की पूर्ति का दूसरा साधन है। ब्याज की एक न्यूनतम दर के बाद बैंक साख ब्याज सापेक्ष होती है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्याज की ऊंची दर पर बैंक अधिक ऋण देते हैं तथा नीची ब्याज की दर पर कम ऋण देते हैं।

(iii) बचतों का असंचय : ऋण योग्य पूर्ति का तीसरा साधन पिछली बचतो का असंचय है। इसका अर्थ है कि लोग मुद्रा का जो संचय करते हैं, उसे उधार दे देते हैं।

(iv) अनिवेशः—अनिवेश से अभिप्राय है कि मशीनों के घिसने पर उनका प्रतिस्थापन नहीं किया जाए। इस प्रकार घिसावट पर खर्च न करने से जो रुपया बचता है उसे ब्याज के रूप में दे दिया जाए। ब्याज की दर बढ़ने से अनिवेश बढ़ता है तथा ब्याज की दर कम होने पर अनिवेश कम हो जाता है।

आलोचनात्मक समीक्षा

1. अनिर्धारणीय : इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर ऋण योग्य कोषों द्वारा निर्धारित होती है। ऋण योग्य कोष आय पर निर्भर करते हैं और आय निवेश स्तर पर निर्भर करती है। निवेश का स्तर, ब्याज की दर पर निर्भर करता है। इसलिए जब आय का पता नहीं होगा, हम ब्याज की दर का अनुमान नहीं लगा सकते तथा बिना ब्याज की दर का पता लगाये आय का अनुमान नहीं लगा सकते।

2. पूर्ण रोजगार की अवास्तविक मान्यता : यह सिद्धान्त लार्ड केन्ज़ के अनुसार पूर्ण रोजगार की अवास्तविक मान्यता पर आधारित है।

3. आय पर निवेश के प्रभाव की उपेक्षा : यह सिद्धान्त आय पर निवेश के प्रभाव की उपेक्षा करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार ऊंची ब्याज की दर पर लोग अधिक बचत करेंगे परन्तु यह सदैव सही नहीं होता। ऊंची ब्याज की दर के कारण निवेश कम होता है, निवेश कम होने के कारण आय कम होती है। आय कम होने के कारण बचत कम होती है।

4. विभिन्न तत्वों का मिश्रण : यह सिद्धान्त कई तत्वों जैसे वास्तविक तथा मौद्रीक तत्वों को एक साथ मिलाकर ब्याज के निर्धारण का अध्ययन किया जाता है। ये तत्व एक–दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं इसलिए ब्याज के निर्धारिण से इनके प्रभावों का अलग–अलग अध्ययन किया जाना चाहिए।

केन्ज़ का ब्याज सम्बन्धी नकदी-अधिमान सिद्धान्त
(Keynes's Liquidity Preference Theory of Interest)

यह सिद्धान्त प्रतिपादित करते हुए केन्ज़ ने नकदी–अधिमान की एक नई धारणा प्रस्तुत की है और इस नई धारणा के आधार पर अपना यह नया ब्याज दर सिद्धान्त स्थापित किया। अतः इस सिद्धान्त की व्याख्या करने से पूर्व हमें यह समझना चाहिए कि नकदी अधिमान का क्या अर्थ है और लोगों में नकदी अधिमान किन कारणों से होता है।

नकदी अधिमान का अर्थः—केन्ज़ ने बताया कि हम अपने धन को कई रूपों में रख सकते हैं। उन विभिन्न रूपों में सबसे सरल रूप मुद्रा या नकदी है क्योंकि हमारा धन नकदी के रूप में हो तो हम इसे इच्छानुसार प्रयोग कर सकते है। इसके विपरीत यदि हमारा धन भूमि, मकान, कारखाने, शेयरों आदि के रूप में हो तो उसे तत्काल अपनी इच्छानुसार प्रयोग नहीं कर सकते। पहले उसे नकदी के रूप में बदलना पड़ता है, तब जाकर उससे हम अपनी वांछित वस्तु या सेवा प्राप्त कर सकते हैं। अपने धन को नकदी के रूप में न रखकर भूमि, मकान, कारखाने, शेयरों तथा ऋणपत्रों के रूप में रखने से एक लाभ यह होता है कि हमें इनसे आय प्राप्त होती है जैसे भूमि, मकान आदि से किराया, शेयरों से लाभांश मिलता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि धन को नकदी के रूप में रखने से लाभ तथा हानियां दोनों होते हैं। अतः यह हमारे अपने निर्णय पर निर्भर करता है कि किसी समय हम नकदी को धन के अन्य रूपों की तुलना में कितना अधिमान प्रदान करते हैं। किसी भी समय व्यक्तियों का नकदी के लिए कुछ अधिमान होता है, किन्तु यदि उनको उस नकदी के लिए उस समय की प्रचलित ब्याज दर से ऊंची ब्याज दर दी जाए तो अधिक सम्भावना यह होगी कि वे अपनी नकदी को कुछ भाग ऋण पर दे देंगे और अपने पास कम नकदी रखने को तैयार हो जाएंगे। इसे हम यों कह सकते हैं कि ब्याज एक ऐसा प्रलोभन है जिसके द्वारा लोगों की नकदी की इच्छा या अधिमान को खरीदा जा सकता है।

नकदी अधिमान के प्रयोजनः—नकदी की मांग निम्नलिखित तीन प्रयोजनों से की जाती हैः—

(a) क्रय-विक्रय का काम चलाने के लिएः—प्रत्येक व्यक्ति तथा फर्म को अपने प्रतिदिन के क्रय&विक्रय के लिए मुद्रा की आवश्यकता होती है। इसका कारण यह होता है कि लोगों तथा फर्मों द्वारा किए जाने वाले व्यय तथा उन्हें प्राप्त होने वाली आय में समय का अन्तर होता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का फर्म आय का कुछ भाग क्रय&विक्रय के लिए नकदी के रूप में रखना पड़ता है।

(b) पूर्वोयापी प्रयोजनः—प्रत्येक व्यक्ति तथा व्यवसाय की यह प्रवत्ति होती है कि वह कुछ नकदी अपने पास इसलिए रखे की उसे आड़े समय में काम आए। एक व्यक्ति को बीमारी, बेरोजगारी, दुर्घटना आदि का सामना करना पड़ सकता है। प्रत्येक व्यक्ति इन कठिनाईयों से बचने के लिए मुद्रा का कुछ भाग नकद के रूप में रखना चाहता है। सावधानी उद्देश्य के लिए रखी गई मुद्रा या नकदी की मात्रा आय स्तर पर निर्भर करती है।

$$Lp = f(y)$$

यहाँ

Lp = सावधानी या पूर्वोयापी प्रयोजन के लिए मुद्रा की मांग।

Y = आय।

(c) सट्टा प्रयोजनः—ब्याज की दर में भविष्य में परिवर्तन होता रहता ाहै। जब लोगों को यह आशा होती है कि भविष्य में ब्याज की दर बढ़ जाएगी तब वे अपनी नकद मुद्रा को वर्तमान समय में उधार नहीं देंगे, जिसे वे भविष्य में ब्याज की दर बढ़ने पर नकद मुद्रा उधार देकर आय प्राप्त कर सकें। इसे सट्टा प्रयोजन कहा जाता है। इस प्रयोजन के किलए नकदी की मांग ब्याज सापेक्ष होती है। इसको हम निम्न समीकरण के रूप में व्यक्त कर सकते हैं।

$$Ls = f(r)$$

यहाँ

Ls = सट्टा प्रयोजन के लिए मुद्रा की मांग

Or = ब्याज की दर

ब्याज दर का निर्धारण
(Determination of Rate of Interest)

केन्ज़ के सिद्धान्त के अनुसार ब्याज दर नकदी या मुद्रा की मांग तथा पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। किसी समय देश में मुद्रा की पूर्ति कितनी होगी इसका निर्णय देश के मुद्रा अधिकारी के हाथ में होता है। अतः जहाँ तक मुद्रा की पूर्ति का प्रश्न है, वह तो सरकार या मुद्रा अधिकारियों द्वारा अपनाई गई नीति पर ही निर्भर करती है। ब्याज दर के निर्धारण को निम्न रेखाचित्र में दिखाया गया हैः—

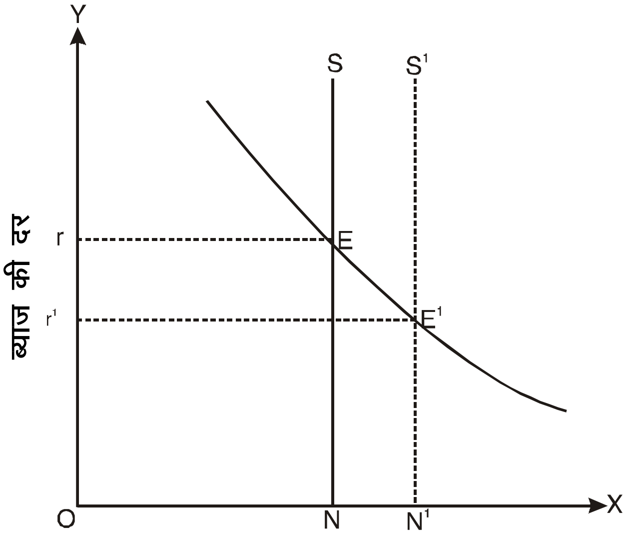

चित्र 7.4 : मुद्रा की मात्रा

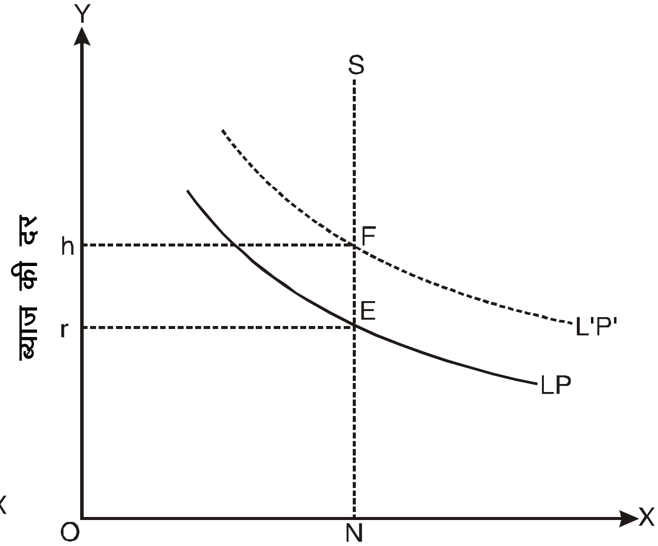

चित्र 7.5 : मुद्रा की मात्रा

ब्याज का यह केवल केन्ज़ द्वारा प्रस्तुत स्वरूप जान लेने पर यह समझना कठिन नहीं होगा कि ब्याज की दर इस बात पर निर्भर करती है कि नकदी की पूर्ति की तुलना में नकदी अधिमान अर्थात नकदी रखने की इच्छा कितनी प्रबल है। दूसरे शब्दों में नकदी अधिमान जितना अधिक प्रबल होगा, उतना ही ब्याज दर अधिक होगी और मुद्रा की पूर्ति या मात्रा जितनी अधिक होगी, उतनी ब्याज दर कम होगी। यदि किन्हीं कारणों से मुद्रा–मात्रा कम हो जाए तो ब्याज दर बढ़ जायेगी।

मान लीजिए रेखाचित्र में मुद्रा–मात्र ON है और लोगों का नकदी अधिमान इतना है कि जिसे LP नकदी अधिमान–वक्र द्वारा व्यक्त किया जा सकता है तब ब्याज दर r होगी। अब यदि नकदी अधिमान तो वही रहे अर्थात नकदी अधिमान वक्र LP ही रहे परन्तु केन्द्रीय मुद्रा मात्रा में बढ़ाकर ON^1 कर दें तो ब्याज दर r^1 हो जाएगी जो पूर्व ब्याज दर से काफी कम है। अब मान लीजिए कि युद्ध के डर से या व्यवसायों में निराशा की भावना फैल जाने से लोगों का नकदी अधिमान तो बढ़ जाता है परन्तु मुद्रा मात्रा पहले जितनी अर्थात ON रहती है। नकदी अधिमान बढ़ने से नकदी अधिमान–वक्र ऊपर की ओर सरक जाएगा। इसे दूसरे रेखाचित्र में L^1P^1 में दर्शाया गया है। इसका प्रभाव यह होगा कि ब्याज की साम्य दर बढ़ जाएगी और यह or की बजाय oh हो जाएगी।

अतः हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि ब्याज दर भी मुक्त बाजार की अन्य कीमतों की भांति उस स्तर पर स्थापित हो जाती है जिस पर कि मांग तथा पूर्ति एक–दूसरे के साथ सन्तुलन में होगी।

केन्ज़ के ब्याज के नकदी अधिमान की आलोचना

1. केन्ज़ के ब्याज के निर्धारण में वास्तविक तत्वों की उपेक्षा की:—ब्याज की दर पूर्णतया मौद्रिक तत्व नहीं है। ब्याज की दर के निर्धारण में पूंजी की उत्पादकता और बचत की भावना जैसे वास्तविक शक्तियाँ भी हैं। इस सिद्धान्त में ब्याज दर को निवेश मांग से स्वतंत्र बताया है। वस्तुतः यह स्वतंत्र नहीं है। व्यवसायियों की नकदी की शक्तियाँ अधिकांशतः पूंजी–निवेश के लिए मांग द्वारा निर्धारित होती है। पूंजी–निवेश के लिए मांग पूंजी की सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर करती है। अतएव ब्याज दर पूंजी की सीमान्त आय उत्पादकता तथा निवेश मांग से स्वतंत्र रूप से निर्धारित नहीं होती। केन्ज़ ने इसकी उपेक्षाकी है।

2. इस सिद्धान्त में भी ब्याज दर निश्चित रूप से निर्धारण नहीं होती : केन्ज़ के अनुसार ब्याज दर मुद्रा के लिए सट्टा–मांग तथा उसको सन्तुष्ट करने के लिए मुद्रा की पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। किन्तु कुल मुद्रा पूर्ति दी हुई होने पर हम यह नहीं जान सकते हैं कि मुद्रा के लिए सट्टा–मांग कितनी होगी यदि हमें पहले मुद्रा के लिए क्रय–विक्रय की मांग मालूम न हो। चूँकि आय का स्तर मालूम न हो तो हमें मुद्रा के लिए क्रय–विक्रय की मांग भी ज्ञात नहीं हो सकती। इसलिए केन्ज़ के सिद्धान्त में ब्याज दर निश्चित रूप से निर्धारित नहीं होती।

3. बचतों के बिना तरलता सम्भव नहीं:—केन्ज़ के अनुसार ब्याज तरलता अथवा नकदी त्यागने का पुरस्कार है और यह बचत प्रेरणा अथवा प्रतीक्षा करने का पुरस्कार नहीं है। परन्तु प्रश्न यह है कि बचत के बिना तरल अथवा नकदी के रूप में रखने के लिए मुद्रा राशियाँ कहाँ उपलब्ध होगी और नकदी त्यागने का प्रश्न ही नहीं उठता, यदि पहले से मुद्रा न बचाई जाए तो। इस प्रकार ब्याज की दर के निर्धारण में बचत से घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसकी केन्ज़ ने उपेक्षा की है।

लाभ
(Profit)

लाभ क्या है?—राष्ट्रीय आय में से उद्यमी (Entrepreneur) को मिलने वाला भाग लाभ कहलाता है। एक उद्यमी का मुख्य कार्य अनिश्चितता को सहन करना या जोखिम उठाना होता है। उद्यमी को इन कार्यों के बदले में जो आय प्राप्त होती है, उसे लाभ कहा जाता है।

परिभाषाएं (Definitions)

अर्थशास्त्रियों ने लाभ शब्द की परिभाषा दो प्रकार से की है:—

(1) लाभ की मात्रा के अनुसार:—प्रो. जैकब औसर के अनुसार, "एक व्यवसाय की बाह्य तथा आंतरिक मजदूरी, ब्याज तथा लगान देने के पश्चात जो अवशेष रह जाता है, वह लाभ है।"

(2) लाभ के स्रोत के अनुसार:—प्रो. हैनरी ग्रेसन के अनुसार, "लाभ नये आविष्कार लागू करने, जोखिम तथा अनिश्चितता उठाने तथा बाजार की अपूर्णताओं का परिणाम हो सकता है।"

लाभ की धारणायें (Concepts of Profits)

(1) कुल लाभ (Gross Profit) : एक उद्यमी की कुल आय तथा कुल बाह्य लागतों (Explicit Costs) के अन्तर को कुल लाभ कहते हैं।

Gross Profit = Total Revenue - Explicit Costs

(2) आर्थिक या शुद्ध लाभ:—आर्थिक लाभ का अनुमान लगाने के लिए कुल लाभ में से आंतरिक लागतें तथा घिसावट और बीमा आदि का व्यय घटा दिया जाता है।

Economic Profit = Gross Profit - Implicit Profit

OR

Economic Profit = Total Revenue - Total Costs

लाभ के सिद्धान्त
(Theory of Profit)

लाभ का निर्धारण करने वाले बहुत से सिद्धान्त हैं। परन्तु इस समय कोई ऐसा सिद्धान्त नहीं, जो सर्वमान्य हो। यदि यह कहा जाए कि सभी सिद्धान्त जो अभी तक दिए गए हैं असन्तोषजनक हैं तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। इनमें से प्रत्येक सिद्धान्त लाभ के किसी एक पक्ष की व्याख्या करता है। आर्थिक सिद्धान्त में सम्भवतः इतना अव्यवस्थित और अनियमित ऐसा कोई विषय नहीं होगा जितना कि लाभ का सिद्धान्त है। लाभ के मुख्य सिद्धान्त आगे दिए अनुसार हैं:

5.1 लाभ का ग्यात्मक सिद्धान्त (Dynamic Theory of Profit)

इस सिद्धान्त की विवेचना प्रो. जे.बी. क्लार्क (J.B. Clark) ने की है। उनके अनुसार, लाभ एक **गत्यात्मक आधिक्य** (Dynamic Surplus) है जो केवल गत्यात्मक स्थिति में उत्पन्न होता है तथा **अगत्यात्मक अवस्था** (Static Condition) में लाभ नहीं मिलता। **प्रो. क्लार्क** के अनुसार, **"गत्यात्मक अवस्था में वस्तुओं की कीमत तथा लागत के अन्तर के कारण**

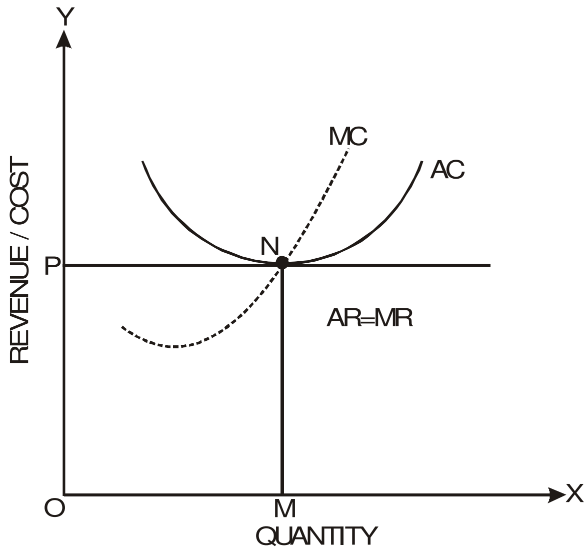

चित्र 7.6

लाभ उत्पन्न होता है।" अगत्यात्मक स्थिति (Static Condition) में आर्थिक तत्त्वों जैसे–मांग, पूर्ति, जनसंख्या आदि में कोई परिवर्तन नहीं होता। इस अवस्था में उद्यमी के लिए कोई जोखिम या अनिश्चितता नहीं होती। प्रत्येक साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर आय प्राप्त होती है। इसलिए सारा राष्ट्रीय उत्पादन साधनों में ही बंट जाता है। उद्यमी को केवल **प्रबन्ध की मजदूरी** (Wages of Management) अर्थात् सामान्य लाभ ही प्राप्त होते हैं। इस अवस्था में वस्तु की कीमत (AR) तथा औसत लागत (AC) बराबर होती है, इसलिए आर्थिक लाभ नहीं होता। इस अवस्था को रेखाचित्र नं. 7.6 से स्पष्ट किया जा सकता है। इस रेखाचित्र से ज्ञात होता है कि उद्यमी OP कीमत पर OM वस्तु का उत्पादन कर रहा है। इस अवस्था में औसत आय (AR) तथा औसत लागत (AC) में कोई अन्तर न होने के कारण फर्म को कोई लाभ नहीं मिलेगा। इस अवस्था में मांग तथा पूर्ति एक–दूसरे के बराबर हैं।

क्लार्क के अनुसार वास्तविक जीवन में **गत्यात्मक अवस्था** (Dynamic) **पाई जाती है।** इस अवस्था में पांच प्रकार के परिवर्तन आते हैं: **(1) जनसंख्या में परिवर्तन होने के कारण मांग की मात्रा में होने वाले परिवर्तन (2) मांग के प्रकार में परिवर्तन (3) उत्पादन की तकनीक में परिवर्तन (4) पूंजी की मात्रा में परिवर्तन तथा (5) व्यावसायिक संगठनों के रूप में परिवर्तन।** अर्थव्यवस्था में जनसंख्या, मांग के प्रकार आदि में परिवर्तन आने के फलस्वरूप मांग की मात्रा कम या अधिक हो सकती है। इसी प्रकार उत्पादन तकनीक तथा पूंजी की मात्रा आदि में परिवर्तन आने के कारण पूर्ति में परिवर्तन आ सकते हैं। मांग तथा पूर्ति में होने वाले परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पादन लागत तथा कीमत में परिवर्तन हो सकता है। यदि कीमत उत्पादन लागत से बढ़ जाती है तो उद्यमी को लाभ होता है इसके विपरीत कीमत के उत्पादन लागत से कम होने के फलस्वरूप उद्यमी को हानि उठानी पड़ती है। **स्टेनियर तथा हेग** के अनुसार, **"एक अर्थव्यवस्था में जहाँ कोई परिवर्तन नहीं होता कोई लाभ नहीं होगा।"** (In an economy where nothing changes, there can be no profit.—Stonier and Hague)। संक्षेप में, क्लार्क के अनुसार गत्यात्मक अर्थव्यवस्था में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरूप जो असंतुलन उत्पन्न होता है उसके फलस्वरूप ही लाभ प्राप्त होता है।

आलोचना (Criticism)

प्रो. नाइट इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहते हैं कि सभी प्रकार के परिवर्तनों के कारण लाभ उत्पन्न नहीं होता। परिवर्तन दो प्रकार के हो सकते हैं: (1) एक पूर्व अनुमानित परिवर्तन जिनका पहले से अनुमान लगाया जा सकता है। इन परिवर्तनों का बीमा करके इनसे होने वाली हानि से बचा जा सकता है। इसलिए इन परिवर्तनों के फलस्वरूप मांग तथा पूर्ति में सन्तुलन उत्पन्न नहीं होता। अतएव इन पूर्व अनुमानित परिवर्तनों के फलस्वरूप लाभ उत्पन्न नहीं होता। **नाईट** के शब्दों में, **"सिर्फ परिवर्तन के कारण लाभ उत्पन्न नहीं होता क्योंकि अगर परिवर्तन के नियम का ज्ञान हो जाए, जैसे प्रायः हो जाता है, तो कोई लाभ उत्पन्न नहीं हो सकता।"** (It cannot then be the changes which is the cause of profits, since if the law of change is known as in fact is largely the case, no profit can arise.—Knight) (2) दूसरे अनिश्चित परिवर्तन जिनका पहले से कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इन अनिश्चित परिवर्तनों के फलस्वरूप ही लाभ उत्पन्न होता है। अतएव नाईट के अनुसार लाभ के गत्यात्मक सिद्धान्त के स्थान पर अनिश्चितता सिद्धान्त ही अधिक उपयोगी है।

नव-प्रवर्तन सिद्धान्त (Innovations Theory)

लाभ के नव&प्रवर्तन सिद्धान्त का प्रतिपादन **प्रो. शुम्पीटर** (Schumpeter) ने किया था। इस सिद्धान्त के अनुसार, **उद्यमी का कार्य नव-प्रवर्तन अर्थात् नये आविष्कार करना तथा उन्हें लागू करना है। इन नव-प्रवर्तनों के फलस्वरूप उद्यमी को जो पुरस्कार प्राप्त होता है वह लाभ कहलाता है।**

नव-प्रवर्तन क्या हैं? (What are Innovations?)

प्रो. शुम्पीटर के **नव-प्रवर्तन** शब्द का प्रयोग काफी विस्तत अर्थों में किया है। उनके अनुसार, **वे सब आविष्कार तथा परिवर्तन जिनके फलस्वरूप उत्पादन लागत को कम किया जा सके या औसत आय को बढ़ाया जा सके जिससे आय तथा लागत का अन्तर अर्थात् लाभ बढ़ जाए, नव-प्रवर्तन कहलाते हैं।** मान लीजिए आप एक नए प्रकार की कार का आविष्कार कर लेते हैं जिसे चलाने के लिए पैट्रोल की आवश्यकता नहीं है तो आप इस कार को काफी अधिक कीमत पर बेच सकेंगे। आपको इसके फलस्वरूप काफी लाभ प्राप्त होगा। **शुम्पीटर** ने **नव-प्रवर्तन की व्याख्या करते हुए बताया कि इसमें वस्तु के उत्पादन की कीमत को कम करने के लिए किसी नई पद्धति को अपनाना या वस्तु की मांग को बढ़ाने के लिए नई नीति को अपनाना सम्मिलित है।** पहले तरीके में नई मशीनों को लगाना, तकनीकी परिवर्तन, कच्चे माल के नए स्रोत आदि का उपयोग किया जा सकता है। दूसरे तरीके में मांग को बढ़ाने के लिए वस्तु के नए–नए आकर्षक नमूने, Production प्रचार की पद्धति जैसे कोई **उपहार योजना** (Gift Scheme) और नए बाजार की खोज इत्यादि सम्मिलित हैं। **शुम्पीटर** के अनुसार, नव–प्रवर्तन पाँच प्रकार के हो सकते हैं: **(1) नई वस्तु का उत्पादन** (Introduction of a New Product) **(2) उत्पादन के नये तरीके का उपयोग** (Introduction of a New Method of Production), **(3) नये बाजार की स्थापना** (Opening of a New Market), **(4) कच्चे माल के नये साधन की खोज** (Discovery of a New Source of Raw Material) **(5) उद्योग कर पुनर्गठन** (Re-organisation of an Industry)।

लाभ के नव–प्रवर्तन सिद्धान्त के अनुसार नव–प्रवर्तन के फलस्वरूप होने वाले लाभ **अस्थाई** (Temporary) होते हैं। इसका कारण यह है कि दूसरे उद्यमी भी नव–प्रवर्तक की **नकल** (Immitation) कर लेते हैं। इसके फलस्वरूप उद्यमियों में परस्पर प्रतियोगिता बढ़ जाने के कारण आर्थिक लाभ समाप्त हो जाते हैं अतएव लाभ प्राप्त करने के लिए नव–प्रवर्तन होते रहते हैं। नव–प्रवर्तन लाभ को जन्म देते हैं तथा लाभ प्राप्त करने की लालसा नव–प्रवर्तन करने के लिए उद्यमियों को प्रोत्साहित करती रहती है।

आलोचना (Criticism)

इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएं इस प्रकार की जाती हैं: (1) **शुम्पीटर** ने लाभ के निर्धारण में अनिश्चितता (Uncertainty) को कोई महत्व नहीं दिया है। वास्तव में सभी नव–प्रवर्तनों में अनिश्चितता होती है। यदि अनिश्चितता न हो तो लाभ भी मजदूरी के समान हो जाएगा। (2) **क्लार्क** की भांति **शुम्पीटर** ने भी उद्यमी के जोखिम उठाने के कार्य को महत्व नहीं दिया। शुम्पीटर के अनुसार, **"उद्यमी कभी भी जोखिम उठाने वाला नहीं होता, यदि व्यवसाय असफल हो जाए तो भी हानि उसी को होती है जो साख प्रदान करता है।"** (The entrepreneur is never risk taker. The one who gives loan comes to grief if the undetaking fails.—Schumpeter)। (3) इस सिद्धान्त के अनुसार, लाभ केवल नव–प्रवर्तन का परिणाम है। शुम्पीटर ने इस सिद्धान्त में लाभ के उत्पन्न होंने के अन्य कारणों की अवहेलना की है।

लाभ का जोखिम सिद्धान्त (Risk Theory of Profit)

प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री **हॉले** (Hawley) ने अपनी पुस्तक 'Enterprise and Productive Process' में लाभ के जोखिम सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। इस सिद्धान्त के अनुसार उद्यमी का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य जोखिम उठाना है। एक उद्यमी उत्पादन के अन्य साधनों जैसे–पूंजी, श्रम, भूमि को एकत्रित करके उत्पादन आरम्भ करता है। इन साधनों को पहले से तय की गई शर्तों के अनुसार उद्यमी को भुगतान (Contractual Payment) करना पड़ता है। इन साधनों की सहायता से जो उत्पादन किया जाता है उसे बेचने में समय लगता है। वस्तुओं का उत्पादन करने तथा उनकी बिक्री में जो समय का अन्तर होता है उसमें कई प्रकार के परिवर्तन आ सकते हैं। इनके फलस्वरूप वस्तु की बिक्री से प्राप्त कुल आय लागत से कम हो सकती है। अतएव उद्यमी को हानि उठाने को जोखिम सहन करना पड़ता है। एक उद्यमी जोखिम तभी उठाएगा जब उसके बदले में उसे कोई पुरस्कार दिया जाए। यह पुरस्कार ही लाभ कहलाता है। **हॉले** के शब्दों में, **"एक व्यवसाय का लाभ प्रबन्ध तथा समन्वय का पुरस्कार नहीं है। यह जोखिम उठाने तथा उत्तरदायित्व का पुरस्कार है।"** (The profit of an undertaking is not the reward of management or co-ordination but of the risk and responsibilities.—Hawley) **हॉले** के अनुसार, जोखिम तथ लाभ में आनुपातिक सम्बन्ध है। उद्यमी का जोखिम जितना अधिक होगा लाभ उतना ही अधिक होगा। इसके विपरीत जोखिम जितना कम होगा लाभ भी उतना ही कम होगा।

हॉले के अनुसार, एक उद्यमी को चार प्रकार के जोखिम उठाने पड़ सकते हैं: (1) **प्रतिस्थापन की जोखिम** (Replacement Risk)। (2) **मुख्य जोखिम** (Risk Proper)। (3) **अनिश्चितता** (Uncertainly)। (4) **पुराना पड़ जाना** (Obsolescence) प्रतिस्थापन को घिसावट भी कहते हैं। इसका अनुमान लगाया जा सकता है। यह लागत में शामिल कर लिया जाता है। अतएव इसके लिए कोई लाभ नहीं मिलता। मशीनों के पुराने पड़ जाने के सम्बन्ध में उचित अनुमान लगाना पूरी तरह सम्भव नहीं क्योंकि यह ठीक प्रकार से नहीं कहा जा सकता कि तकनीकी उन्नति के कारण मशीनों को बेकार होना पड़ेगा, अथवा नहीं होना पड़ेगा। फिर भी इसके खर्च को लागत में शामिल कर लिया जाता है। मुख्य जोखिम इस कारण उत्पन्न होती है, क्योंकि वस्तु को उत्पन्न करने तथा उसे बेचने के समय, जो अन्तर होता है उसमें कई प्रकार के अनिश्चित परिवर्तन आ सकते हैं। इसके फलस्वरूप उद्यमी को हानि भी हो सकती है। **लागत में मुख्य जोखिम तथा अनिश्चितता का भाग शामिल नहीं होता। इसके लिए एक उद्यमी तभी जोखिम सहन करेगा जब उसे इसके बदले में कोई पुरस्कार मिलेगा। वह पुरस्कार ही लाभ है।**

आलोचनायें (Criticisms)

लाभ के जोखिम सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएं निम्नलिखित हैं:

(1) **जोखिम कम करने का पुरस्कार** (Reward for Reducing Risk): **प्रो. कारवर** (Carver) ने लाभ के जोखिम सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि **"लाभ इसलिए उत्पन्न नहीं होता क्योंकि योग्य उद्यमियों द्वारा जोखिम उठायी जाती है बल्कि इसलिए उत्पन्न होता है क्योंकि योग्य उद्यमी जोखिम को कम करने में समर्थ होते हैं।"** (Profits arise not because risks are borne by the entrepreneurs but because the superior entrepreneurs are able to reduce them.—**Carver**) अतएव **कारवर** के अनुसार, उद्यमी लाभ इसलिए प्राप्त नहीं करते कि वे जोखिम उठाते हैं बल्कि इसलिए प्राप्त करते हैं कि वे जोखिम को नहीं उठाते हैं।

(2) **सभी प्रकार के जोखिम का पुरस्कार नहीं है** (Not a Reward for All Types of Risk): **प्रो. नाईट** के अनुसार प्रत्येक प्रकार के जोाखिम का पुरस्कार लाभ नहीं होता। केवल ऐसा जोखिम जिसको देखा या जाना नहीं जा सकता और इसलिए बीमा नहीं करवाया जा सकता, जैसे मांग तथा लागत की दशाओं से सम्बन्धित जोखिम। इनके परिणामस्वरूप ही लाभ उत्पन्न होता है। इसके विपरीत कुछ जोखिमों जैसे–आग, चोरी, दुर्घटना आदि का अनुमान लगाया जा सकता है तथा इसका बीमा करवा कर उनको दूर किया जा सकता है। इन जोखिमों के लिए कोई लाभ नहीं मिलता। अतएव **नाईट** के अनुसार लाभ केवल अनिश्चित जोखिमों का पुरस्कार है। सब प्रकार के जोखिमों का पुरस्कार नहीं है।

(3) **संकीर्ण सिद्धान्त** (Narrow Theory): आलोचकों के अनुसार लाभ का जोखिम सिद्धान्त एक संकीर्ण सिद्धान्त है। उनके अनुसार लाभ केवल जोखिम उठाने का ही पुरस्कार नहीं है। उद्यमी की प्रबन्ध करने की योग्यता, एकाधिकारी स्थिति, नव–प्रवर्तन आदि के कारण भी लाभ उत्पन्न होता है। अतएव यह सिद्धान्त लाभ के केवल एक ही तत्व का वर्णन करता है बाकी तत्वों की अवहेलना करता है।

(4) **लाभ तथा जोखिम में आनुपातिक सम्बन्ध नहीं हैं** (No Proportional Relation Between Profit and Risk): आलोचकों के अनुसार लाभ तथा जोखिम उठाने में कोई आनुपातिक सम्बन्ध नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि अधिक जोखिम उठाने पर अधिक लाभ मिलेगा। यदि ऐसा होता तो सभी उद्यमी अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए जोखिम उठाते तथा कोई और विशेष कार्य नहीं करते।

लाभ का अनिश्चितता सिद्धान्त (Uncertainty Bearing Theory of Profit)

फ्रैंक नाईट के अनुसार, **"उद्यमी का मुख्य कार्य उत्पादन सम्बन्धी अनिश्चितताओं को सहन करना होता है। अनिश्चितताओं को सहन करने के प्रतिफल को ही लाभ कहा जाता है।"** (Profit is a reward for bearing uninsurable future uncertainty) | **अनिश्चितताओं** (Uncertainties) को सहन करने के अतिरिक्त कोई भी उद्यमी अपने उद्योग अथवा व्यवसाय में अन्य कार्य जैसे श्रमिक का कार्य, पूंजीपति का कार्य, मैनेजर का कार्य इत्यादि भी कर सकता है तथा इन सब कार्यों के लिए भी उसे प्रतिफल प्राप्त होते हैं। परन्तु इन सभी प्रतिफलों को उद्यमी के लाभ का अंश नहीं माना जाता। ये सभी प्रतिफल वेतन, ब्याज, लगान इत्यादि के प्रतिरूप माने जाते हैं। अतः इन्हें उत्पादन लागत का हिस्सा माना जाता है, लाभ नहीं माना जाता, लाभ का सम्बन्ध केवल अनिश्चितता सहन करने से ही है। दूसरे शब्दों में, लाभ

एक व्यवसाय में होने वाला प्रबन्ध अथवा समन्वय का पुरस्कार नहीं है, केवल उद्यमी की अनिश्चितता सहन करने का प्रतिफल है। यहाँ अनिश्चितता तथा जोखिम के भेद को समझ लेना जरूरी होगा। व्यवसाय सम्बन्धी जोखिम दो प्रकार के हो सकते हैं:

(A) पूर्व अनुमानित जोखिम (Certain Risk): इस प्रकार के जोखिम चोरी, दुर्घटना, आग आदि से सम्बन्धित हैं। इनका प्रत्येक उद्यमी अनुमान लगा सकता है अतः वह इनकी हानि से बचने के लिए बीमा करा सकता है। इसलिए इन्हें **बीमायोग्य जोखिम** (Insurable Risk) कहा जाता है। ये जोखिम बीमा व्यय के कारण लागत का ही अंग बन जाते हैं, इसके लिए कोई लाभ नहीं मिलता।

(B) अनिश्चित जोखिम (Uncertain Risk): **प्रो. नाइट** के अनुसार, एक उद्यमी को कई प्रकार के अनिश्चित जोखिम उठाने पड़ते हैं जैसे–मांग में होने वाले परिवर्तन, नये आविष्कार, सरकारी नीति में परिवर्तन, प्रतियोगिता आदि। इन जोखिमों का पूर्वानुमान लगाना सम्भव नहीं होता इसलिए इनका बीमा भी नहीं कराया जा सकता। इन अनिश्चित जोखिमों के कारण ही लाभ उत्पन्न होता है। अनिश्चित जोखिम निम्नलिखित कारणों से हो सकते हैं:

(1) बाजार की दशाओं में अनिश्चितता (Uncertainties in Market Condition): प्रत्येक बाजार में मांग तथा पूर्ति में परिवर्तन आता रहता है। उत्पादक वस्तु की सम्भावित मांग के आधार पर उत्पादन करता है परन्तु यह सम्भव है कि जब उद्यमी बाजार में अपना उत्पादन बेचने के लिए तैयार हो तो मांग बहुत कम हो जाए। मांग में परिवर्तन उपभोक्ता के स्वाद या रुचि में परिवर्तन, जनसंख्या की आयु रचना, आय के वितरण आदि के कारणों से हो सकता है। जब मांग में परिवर्तन हो जाता है तो फर्म की आय में भी परिवर्तन होता है। मांग के अचानक कम होने के कारण फर्म को काफी हानि उठानी पड़ती है। अतएव बाजार दशओं में परिवर्तन के फलस्वरूप उद्यमी को अनिश्चितता का सामना करना पड़ता है।

(2) प्रतियोगिता सम्बन्धी अनिश्चितता (Competitive Uncertainty): बाजार में नई फर्मों के आने तथा प्रतियोगिता के कारण पुरानी फर्मों के लिए बाजार स्थितियाँ और अनिश्चित हो जाती हैं। नई फर्मों के कारण पुरानी फर्मों की बिक्री कम हो सकती है तथा उनके लाभ कम होने की सम्भावना बढ़ जाती है। उद्योग में नई फर्मों के प्रवेश करने तथा उनकी प्रतियोगिता शक्ति के सम्बन्ध में सदैव अनिश्चितता बनी रहती है।

(3) सरकारी हस्तक्षेप (Government Interference): आर्थिक विकास एवं आर्थिक स्थायित्व लाने के दष्टिकोण से सरकार अर्थव्यवस्था में हस्तक्षेप करती है। कभी–कभी सरकार ऐसे अनिश्चित कदम उठा लेती है, जिनका उद्यमी वर्ग को पूर्व अनुमान नहीं होता। परिणामस्वरूप, उन्हें अनायास ही लाभ अथवा हानि उठानी पड़ती है। मुद्रा अवमूल्यन, आयात–निर्यात नियन्त्रण इत्यादि सरकार के आकस्मिक हस्तक्षेप के कुछ प्रमुख उदाहरण हैं।

(4) तकनीकी परिवर्तन (Technological Innovations): आज का युग तकनीकी परिवर्तनों का युग है। प्रायः मशीनों तथा उत्पादन के अन्य पूंजीगत साधनों को घिसने से पहले बदलना पड़ता है। अन्यथा उत्पादन लागत के आधार पर किसी भी उद्यमी के लिए टिकना कठिन हो जाता है। तेजी से होने वाले औद्योगिक आविष्कारों के कारण उद्यमी के अनिश्चित–जोखिम प्रबल होते जा रहे हैं।

(5) व्यापारिक चक्र (Business Cycles): व्यापारिक उतार–चढ़ाव किसी भी पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की मूल विशेषतायें हैं। मन्दी के समय बाजार में मांग की भारी कमी होती है। चूँकि यह मन्दी अर्थव्यवस्था में होने वाली विभिन्न प्रक्रियाओं के पारस्परिक प्रभावों से उत्पन्न होती है इसलिए किसी उद्यमी द्वारा इसकी रोकथाम अथवा इनके प्रभाव का पूर्वानुमान लगाना असम्भव होता है। परिणामस्वरूप, उद्यमी की व्यावसायिक अनिश्चितता में वद्धि होती है।

संक्षेप में, **प्रो. शैकल** (Schakle) के अनुसार प्रत्येक उद्यमी वस्तुओं का उत्पादन कुछ **आशंसाओं** (Expectations) के आधार पर करता है। ये आशंसायें ही मुख्य रूप से अनिश्चितता को जन्म देती हैं। आशंसायें दो प्रकार की हो सकती हैं:

(1) सामान्य आशंसायें (General Expectations): इनका सम्बन्ध सारी अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित तत्वों में भविष्य में होने वाले परिवर्तन है। इन तत्वों का सम्बन्ध राष्ट्रीय आय, कीमत स्तर, भुगतान सन्तुलन आदि में होने वाले परिवर्तनों से है।

(2) विशेष आशंसायें (Particular Expectations): इन आशंसाओं का सम्बन्ध एक फर्म या उद्योग से सम्बन्धित तत्वों में भविष्य में होन वाले परिवर्तन से है। इनका सम्बन्ध प्रतियोगी की कीमत नीति आदि से है। इन आशंसाओं के फलस्वरूप ही लाभ उत्पन्न होता है। कोई उद्यमी जितनी अधिक अनिश्चितता उठाने के लिए तैयार होना उतना ही अधिक लाभ उसको प्राप्त होगा।

आलोचनायें (Criticisms)

इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्नलिखित हैं:

(1) लाभ के अन्य तत्वों की अवहेलना (Ignores Other Determinants of Profit): लाभ अनिश्चितता सहन करने का ही पुरस्कार नहीं है। इस सिद्धान्त में उद्यमी के अन्य कार्य जैसे–प्रबंध करना, समन्वय करना, इत्यादि को कोई स्थान नहीं दिया गया है अतएव यह सिद्धान्त लाभ का एक अपूर्ण सिद्धान्त है।

(2) अवास्तविक मान्यता (Unrealistic Assumption): इस सिद्धान्त की यह मान्यता उचित नहीं है कि उद्यमी की पूर्ति के सीमित होने का मुख्य कारण अनिश्चितता है। अनिश्चितता ही उद्यमी की सीमित पूर्ति तथा परिणामस्वरूप लाभ के उत्पन्न होने का एकमात्र कारण नहीं है। उद्यमी की सीमित पूर्ति के लिए अन्य कारण जैसे पूंजी का अभाव, ज्ञान एवं अवसर का अभाव इत्यादि भी उतने ही महत्वपूर्ण तत्व हैं। परन्तु इसका अनिश्चितता सिद्धान्त में समावेश नहीं किया गया है।

(3) अस्पष्ट सिद्धान्त (Vague Theory): अनिश्चितता उठाने का सिद्धान्त लाभ के निर्धारण का एक अस्पष्ट सिद्धान्त है। आजकल संसार में **बहुराष्ट्रीय निगमों** (Multinational Corporations) तथा उनकी एकाधिकारी शक्तियों का इतना अधिक महत्व है कि वे अपने लाभ से एक सीमा तक निश्चितता लाने में सफल हो गए हैं। **नाईट** का अनिश्चितता सिद्धान्त ऐसी परिस्थितियों में तर्कसंगत नहीं जाना जाता।

(4) संयुक्त पूंजी कम्पनियों पर लागू नहीं होती (Not Applicable in Case of Joint Stock Companies): संयुक्त पूंजी कम्पनियों के सम्बन्ध में **नाईट** का अनिश्चितता सिद्धान्त शंका रहित नहीं है। ऐसी कम्पनियों में लाभ के अधिकारी केवल **फर्म** के **हिस्सेदार** (Shareholders) होते हैं। उद्यम सम्बन्धी किसी भी कार्य को वे नहीं करते। उद्यम सम्बन्धी कार्य अथवा निर्णय वेतन पाने वाले प्रबन्धक ही करते हैं। अतः फर्म के हिस्सेदार जो कि लाभ के अधिकारी होते हैं, किसी भी प्रकार के निर्णय नहीं लेते। जबकि निर्णय लेने वाले अधिकारी लाभ के अधिकारी नहीं होते। इन कम्पनियों में लाभ का बंटवारा किस आधार पर होगा। इस सम्बन्ध में भी अनिश्चितता सिद्धान्त कोई प्रकाश नहीं डालता।

(5) अनिश्चितता उत्पादन का पथक साधन नहीं है (Uncertainty is Not a Separate Factor of Production): नाईट की यह मान्यता भी ठीक नहीं है कि अनिश्चितता, श्रम, भूमि, पूंजी आदि के समान उत्पादन का एक पथक साधन है। अनिश्चितता एक मनोवैज्ञानिक धारणा है जो उत्पादन की वास्तविक लागत (Real Cost) का भाग है, परन्तु उत्पादन के साधनों की पूर्ति उनकी वास्तविक लागत के स्थान पर मौद्रिक लागत पर निर्भर करती है।

संक्षेप में, लाभ का निर्धारण का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं है। लाभ कई तत्वों जैसे–**गत्यात्मकता, नव-प्रवर्तन, जोखिम** तथा **अनिश्चितता** का पुरस्कार है।

एकाधिकारी लाभ का सिद्धान्त या फायदे की स्थिति
(Theory of Monopoly Profit of Position of Advantage)

सैम्यूअलसन के अनुसार अधिकतर लोग लाभ के सम्बन्ध में यदि सशंकित नहीं होते तो आलोचनात्मक अवश्य होते हैं। जो लोग लाभ की आलोचना करते हैं लाभ उनके लिए मजदूरी या प्रतियोगी बाजार में जोखिम को समान करने वाले पुरस्कार का रूप नहीं होता। एक मुनाफाखोर का जो चित्र उनके सामने होता है उसमें वह एक ऐसे व्यक्ति के रूप में दिखाया जाता है जो कपट पूर्ण हिसाब किताब में दक्ष होता है और किसी न किसी प्रकार शेष समाज का शोषण करता रहता है। सम्भवतया आलोचकों के मन में लाभ का अर्थ होता है, **"एकाधिकार से प्राप्त आय के रूप में लाभ।"**

एकाधिकारी को अपनी फायदेमन्द स्थिति के कारण जो लाभ होता है उसे **एकाधिकारी लाभ** (Monopoly Profits) कहा जाता है। एकाधिकारी वस्तु की पूर्ति या कीमत को नियमित करके सामान्य लाभ से अधिक आय प्राप्त कर सकता

है। एक एकाधिकारी नई फर्मों के प्रवेश को रोकने की योग्यता एवं क्षमता रख्ता है। परिणामस्वरूप वह अपने उत्पादन की पूर्ति को सीमित करके दीर्घकाल में भी असामान्य लाभ प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में एकाधिकारी की स्थिति प्रतियोगी फर्म की स्थिति से अधिक लाभदायक होगी।

फायदेमन्द स्थिति या एकाधिकारी लाभ के कारण
(Causes of the Position of Advantage of Monopoly Gain)

फायदेमन्द स्थिति के फलस्वरूप लाभ उत्पन्न होने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :

(i) कृत्रिम दुर्लभताएं (Contrived Scarcities): **सैम्युअलसन** के अनुसार एकाधिकारी, कृत्रिम दुर्लभताएं पैदा करने की स्थिति में होता है। इस प्रकार की दुर्लभताएं पेटन्ट, कापीराइट, कच्चे माल की अधिकतर पूर्ति पर अधिकार इत्यादि के कारण उत्पन्न होती हैं। कृत्रिम दुर्लभताएं पैदा करके एकाधिकारी को अपने उत्पादन की पूर्ति को सीमित करने से लाभ प्राप्त होता है।

(ii) रचनात्मक योग्यता की दुर्लभता (Scarcity of Creative Ability): **हाब्सन** के अनुसार एकाधिकारी लाभ का एक कारण उद्यमियों में रचनात्मक योग्यता की कमी है। इसके फलस्वरूप उद्यमियों की पूर्ति कम हो जाती है। उनमें अपूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति के कारण ये उद्यमी श्रम को उसकी सीमान्त उत्पादकता से कम मजदूरी देकर **आधिक्य** (Surplus) प्राप्त करते हैं। यह आधिक्य या बलात् आय उनके लाभ का कारण बनता है।

(iii) नवप्रवर्तन (Inn]ovations): **प्रो. शुम्पीटर** के अनुसार जब कोई फर्म नवप्रवर्तन करती है तो उस वस्तु के उत्पादन के प्रारम्भ में वह फर्म एकाधिकार की स्थिति में होती है। इसलिए उसे अधिक लाभ प्राप्त होते हैं। वह वस्तु की कीमत, एकाधिकार में कीमत निर्धारण के सिद्धान्त के अनुसार तय करती है अतएव उसे एकाधिकार लाभ प्राप्त होते हैं।

(iv) व्यवसाय की अनिश्चितता (Uncertainty in Business): **फ्रैंक नाईट** के अनुसार व्यवसाय में अनिशिचितता की प्रवत्ति पाये जाने के फलस्वरूप एकाधिकारी लाभ उत्पन्न होते हैं। जिन उद्योगों में अनिश्चितता अधिक होती है उनमें जो उद्यमी अनिश्चितता को सफलतापूर्वक सहन नहीं कर सकते हैं उन्हें अधिक लाभ प्राप्त होते हैं। उनकी स्थिति उन उद्यमियों से अधिक फायदेमन्द होती है जो अनिश्चितता का अनुमान लगाने में असमर्थ रहते हैं।

संक्षेप में, नव–प्रवर्तन, अगतिशीलता, अनिश्चितता वहन करने की शक्ति, कृत्रिम दुर्लभताएं आदि दशाएं एक उद्यमी की स्थिति को अधिक फायदेमन्द बना देती हैं। इसके फलस्वरूप उन्हें अधिक लाभ होते हैं।